श्रीअरविन्द हमेशा अपनी मातृभूमि से प्रगाढ़ प्रेम रखते थे। लेकिन वे चाहते थे कि वह महान्, उदात्त, पवित्र और संसार में अपने महान् जीवन-लक्ष्य के योग्य बने। वे उसे अंधे स्वार्थ और अज्ञानमय पक्षपात के क्षुद्र, मलिन और गँवारू स्तर तक डूबने देने से इंकार करते थे।

इसलिए, पूर्णतया उनकी इच्छा के अनुसार, हम उन लोगों की परवाह किये बिना जो अज्ञानता, मूर्खता, ईर्ष्या या दुर्भावनावश उसे कलुषित करना या कीचड़ में घसीटना चाहते हैं, सत्य, प्रगति और मानव रूपांतर की ध्वजा को ऊँचा उठाते हैं। हम उसे बहुत ऊँचा रखते हैं ताकि जिनमें भी अंतरात्मा है वे उसे देख सकें और उसके चारों ओर एकत्र हो सकें।

– श्रीमाँ

माँ हमसे क्या माँग करती हैं ?

जैसे चैतन्य निमाई पंडित न रहकर कृष्ण बन जाते थे, राधा बन जाते थे, बलराम बन जाते थे, उसी तरह हम सब पृथक्-पृथक् जीवन ना जीकर राष्ट्र में निवास करें। जैसे मुमुक्षु का मन सदैव मोक्ष के विचार में लीन रहता है उसी प्रकार हमारे मन राष्ट्रीय पुनरुत्थान की आशा में लीन रहें। हमारा त्याग गुमनाम तपस्वी के त्याग के जैसा पूर्ण हो।... हम अभी तक अपने और देश के हितों के बीच दुविधा में हैं। हम रुपये में एक आना तो माँ की सेवा में देना चाहते हैं और पंद्रह आने अपनी पत्नी, अपने बच्चों, अपनी संपत्ति, अपनी ख्याति व सम्मान, अपनी सुरक्षा और अपने आराम के लिए रखना चाहते हैं। माँ अपने आपको देने से पहले हमारे सर्वस्व की माँग करती है। जब तक राजा सुरथ ने अपनी शिराओं का रक्त तक अर्पित नहीं कर दिया तब तक माँ ने उनके सामने प्रकट होकर वरदान माँगने के लिए नहीं कहा। जब तक शिवाजी माँ के चरणों में अपना मस्तक चढ़ाने के लिए प्रस्तुत नहीं हुए तब तक भवानी ने दर्शन देकर उनका हाथ रोककर उन्हें अपनी जाति को आजाद करने का आदेश नहीं दिया।

नव जागरण वास्तव में नवजन्म है, और नवजन्म बुद्धि से नहीं आता, धन-दौलत से नहीं आता, नीति से नहीं आता, मशीनरी के परिवर्तन से नहीं आता, बल्कि वह आता है नया हृदय पाने से, हम जो कुछ हैं उस सबकी यज्ञाग्नि में आहुति देने से और माँ के अंदर नया जन्म पाने से। हमसे आत्मोत्सर्ग की माँग की जाती है। वह हमसे पूछती हैः ''तुममें से कितने हैं जो मेरे लिए जियेंगे? कितने हैं जो मेरे लिए मर मिटेंगे?'' और वह हमारे उत्तर की प्रतीक्षा में है।

- श्रीअरविन्द

अमर भारत

डायरी २००७

श्रीमाँ व श्रीअरविन्द के शब्दों में

"भारत एक संरक्षित भूमि है, श्रीअरविन्द की भूमि।"

श्रीमाँ

इस डायरी में श्रीअरविन्द व श्रीमाताजी की कृतियों में से भारत के विषय में चुने हुए उद्धरण प्रस्तुत हैं। हमें विश्वास है कि भारतीय संस्कृति के गौरव व उसकी महानता के विषय में सच्ची एवं गहरी अंतर्दृष्टि प्राप्त करने के इच्छुक पाठकों का ये उचित मार्गदर्शन कर सकेंगे।

डायरी में आई इटेलिक्स टाइप का अर्थ है कि वे उद्धरण या तो स्वयं सम्पादक के हैं या श्रीमाँ व श्रीअरविन्द की कृतियों से अलग किसी अन्य स्रोत से लिए गए हैं।

सभी उद्धरणों के चयन, प्रस्तुति-क्रम व विभिन्न शीर्षकों में उनके वर्गीकरण के लिए सम्पादक उत्तरदायी है।

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, 2006

प्रकाशक:-

द रिसर्जेन्ट इंडिया ट्रस्ट

श्रीअरविन्द निकेतन, खेतान मोहल्ला,

झुंझुनू - ३३३००१, राजस्थान

फोन. (01592) 325551

वितरक :-

मै. अम्बुजम्

एफ - ९०, रायसर प्लाजा

इन्दिरा बाजार, जयपुर, (राज०)

*फोन. **(0141) 3219010***

*मो. **09314889010***

व्यक्तिगत सूचना

नाम

पता (घर)

टेलीफोन मोबाइल

पता (ऑफिस)

ई-मेल

टेलीफोन फैक्स

बैंक खाता संख्या

क्रेडिट कार्ड संख्या

स्थाई खाता संख्या (**PAN**)

ड्राइविंग लाइसेंस संख्या

बीमा संख्या

ब्लड ग्रुप

जन्मदिन सूची

आश्रम के महत्वपूर्ण दिवस

श्रीमाँ का जन्म दिवस (दर्शन दिवस)	२१ फरवरी
ओरोविल की स्थापना	२८ फरवरी
अतिमानस का अवतरण	२९ फरवरी
श्रीमाँ का पांडिचेरी में प्रथम आगमन	२९ मार्च
श्रीअरविन्द का पांडिचेरी में आगमन	४ अप्रैल
श्रीमाँ का पांडिचेरी में स्थाई आगमन (दर्शन दिवस)	२४ अप्रैल
श्रीअरविन्द का जन्म दिवस (दर्शन दिवस)	१५ अगस्त
श्रीमाँ का महासमाधि दिवस	१७ नवम्बर
श्रीमाँ की देह को समाधिस्थ करना	२० नवम्बर
सिद्धि दिवस (दर्शन दिवस)	२४ नवम्बर
श्रीअरविन्द का महासमाधि दिवस	५ दिसम्बर
श्रीअरविन्द की देह को समाधिस्थ करना	९ दिसम्बर

हम कोई साधारण जाति नहीं हैं। हम एक ऐसी जाति हैं जिसका इतिहास उतना ही पुराना है जितने यहाँ के पहाड़ और नदियाँ और हमारे पीछे (बहुविध) महानताओं से भरा एक ऐसा इतिहास है जिसका अतिक्रमण कोई भी दूसरी जाति नहीं कर पाई है। हम उनकी संतान हैं जिन्होंने तपस्या की और आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए अकल्पनीय त्याग किए और जिन्होंने स्वेच्छा से उन सारे कष्टों को झेला है जो मनुष्यता झेलने में सक्षम है। हम उन माताओं की संतान हैं जिन्होंने चिताओं की धधकती ज्वाला में मुस्कान के साथ प्रवेश किया जिससे कि परलोक में वे अपने पतियों के साथ जा सकें। हम एक ऐसा राष्ट्र हैं जो कष्टों का भी स्वागत करते हैं और जिनके भीतर ऐसी आध्यात्मिक शक्ति भरी हुई है जो किसी भी शारीरिक शक्ति से बड़ी है। हम एक ऐसी जाति हैं जिनके भीतर इतिहास के महान् क्षणों में भगवान् अपने-आप को अभिव्यक्त करते रहे हैं और उनकी इतनी अधिक अभिव्यक्ति और किसी जाति में नहीं हुई है। और आज भी चूँकि भगवान् अपने-आपको अभिव्यक्त करना चाहते हैं और अपने लोगों के भीतर वे प्रवेश कर चुके हैं इसीलिए राष्ट्र के रूप में फिर से हम आज उठ खड़े हो रहे हैं।

- श्रीअरविन्द

शरीर तो अपने परिवेश से बँधा होता है लेकिन हृदय उसका अतिक्रमण कर जाता है और इस प्रकार मैं सुदूर ठंडे प्रदेशों में भी भारत के प्रति अपने प्रेम को अपने साथ लिए रहता हूँ। आत्मा तो इससे भी अधिक स्वतन्त्र है। अच्छा तो तब होगा जब प्रत्येक भारतीय अपने विदेशी परिवेश से मोम की तरह मोहर लगवाने की बजाय जहाँ भी जाए वहाँ अपने साथ भारत को भी ले जा सके। क्योंकि उसका अर्थ होगा कि भारत अवश्य ही सारे विश्व को जीतकर उस पर अपनी छाप लगा देगा।

- श्रीअरविन्द

विषय सूची

सनातन धर्म - एकमात्र सच्चा राष्ट्रवाद.....१३
हिन्दू धर्म - सनातन धर्म.....३०
१. हिन्दू धर्म के तीन मौलिक तत्त्व.....३२
२. सतही व संकीर्ण हिन्दू धर्म.....३४
३. बृहत्तर हिंदुत्व - भावी विश्व-धर्म.....३४
हिन्दू धर्म का मूलभूत ढाँचा एवं कार्य-प्रणाली.....८४
१. केन्द्रीय उद्देश्य.....८४
२. एक संस्कृति की पद्धति.....८५
३. भूतकाल में भारतीय धर्म का जीवन के साथ व्यवहार.....८६
(क) प्रथम बोध - तिहरा चतुष्टय.....८७
(ख) द्वितीय बोध - अध्यात्मिक ध्येय पर आग्रह.....८७
(ग) अधिकार, मनुष्य की बदलती हुई स्वाभाविक क्षमता.....८८
(घ) धार्मिक विकास की क्रमबद्ध पद्धति.....९०
४. जीवन की सामान्य संस्कृति के साथ जटिल आध्यात्मिक और धार्मिक विकास का संयोजन.....९३
(क) ऋषि और शास्त्र.....९३
(ख) नैतिक संस्कृति और धर्म का ताना-बाना.....९४
(ग) भारतीय कला, संगीत, साहित्य और प्रकृति के कलात्मक एवं भोगवादी अंगों का विकास.....९६
(घ) ऋषि, धर्म, शास्त्र और मानव की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सत्ता की आध्यात्मिक आदर्श के प्रति अधीनता.....९७
५. सारांश : प्रयास की सामान्य विशेषताएँ.....९८
भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के युग १००
१. वेदों व उपनिषदों का युग - प्रथम अवस्था.....१००
(क) वेदों का बाह्य या सुबोध पहलू.....१००
(ख) वेदों का आन्तरिक या गूढ़ पहलू.....१०१
(ग) वैदिक शिक्षाओं की महानतम शक्तियाँ.....१०१
(घ) उपनिषद् - वेदान्त.....१०२
२. उत्तर वैदिक युग या पुराण-तांत्रिक अवस्था.....१०४
३. आध्यात्मिक जीवन का सामान्यीकरण – तीसरी अवस्था.....१०९
भारत और उसकी संस्कृति की महानता.....१२३
१. भारतीय संस्कृति की भूतकालीन रचनाएँ एवं उपलब्धियाँ.....१२३
२. प्राचीन भारतीय भाव की चार शक्तियाँ.....१२६
(क) आध्यात्मिकता.....१२६
(ख) विलक्षण प्राणशक्ति.....१२७

(ग) शक्तिशाली बौद्धिकता.....१२८
(घ) पराकाष्ठा का परिमापन और मन व जीवन का समन्वयात्मक आवेग.....१३०
भारतीय कला और संस्कृति.....१३७
१. भारतीय वास्तुकला.....१४१
२. भारतीय मूर्तिकला.....१४७
३. भारतीय चित्रकला.....१५४
४. भारतीय साहित्य.....१६१
भारतीय शासन प्रणाली.....१६९
१. भारतीय शासन प्रणाली के सच्चे स्वभाव का सत्य.....१७०
२. प्राचीन भारतीय शासन तंत्र की प्रणाली.....१८१
३. प्राचीन भारत में राजनैतिक एकीकरण में उत्पन्न कठिनाइयों का रहस्य.....२००
प्राचीन भारत में आर्य शिक्षण पद्धति.....२११
१. प्राचीन भारतीय सभ्यता की महानता का रहस्य.....२११
२. आधार : ब्रह्मचर्य का अनुशासन.....२१२
३. प्रणाली : रेतस् का ओजस में रूपांतर.....२१३
४. तीन गुण व सत्त्व का विकास.....२१४
५. आर्य पद्धति की उपलब्धियाँ.....२१६
भारतीय बनाम पाश्चात्य संस्कृति.....२१९
भारतीय संस्कृति की प्रतिरक्षा.....२२९
भारत की अंतरात्मा और उसका मिशन.....२७४
भारत की अंतरात्मा का जन्म – उसके गौरवशाली अतीत के कुछ दृश्य.....२७४
भारत से प्रेम करो.....२९६
भारत के विषय में श्री माताजी के वचन.....३०५
१. भारत की आत्मा और उसका मिशन.....३०६
२. भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति, कला एवं साहित्य.....३१४
३. भारत और पश्चिम.....३२७
४. कुछ समस्याएँ तथा उनका समाधान.....३३४
५. भारत का भविष्य और मनुष्य जाति के लिए उसका महत्व.....३४५
हमने क्यों दुःख भोगा?.....३५३
जाति प्रथा एवं जाति बहिष्कृतों से बर्ताव.....३५८
भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन, नेता, मुद्दे आदि.....३६९
श्रीअरविंद का १५ अगस्त १९४७ का संदेश.....३८३
हममें क्या दोष हैं.....३८६
हमें क्या करने की आवश्यकता है.....३८९

इससे मुझे कोई भय नहीं लगता कि हिंदुत्व के खोखले, कीड़े खाये हुए बहिरंग धीरे-धीरे टूटकर और मरकर किसी आकस्मिक और विचित्र विघटन के शिकार हो रहे हैं। उनके भीतर मुझे एक सभ्यता की जीती-जागती आत्मा दिखलाई देती है, भले ही वह सोई पड़ी हो। उसके ऊपर मुझे ईश्वर का सांत्वनाप्रद वाक्य दिखाई देता है कि 'चूंकि तूने मुझमें विश्वास किया, इसलिए तू जीवित रहेगी, नष्ट नहीं होगी।'

- श्रीअरविन्द

आध्यात्मिकता ही भारत की एकमात्र राजनीति है और सनातन धर्म की उपलब्धि ही उसका एकमात्र स्वराज। मुझे इसमें संदेह नहीं कि हमें अपनी संसदीय अवधि में से इसलिए गुजरना होगा ताकि हम व्यवहार में यह देखकर कि राष्ट्रों को समृद्ध बनाने में पाश्चात्य प्रजातंत्र की धारणा कितनी असहाय है, उससे छुटकारा पा सकें।

- श्रीअरविन्द

इसके बाद भगवान् ने मेरे हाथों में गीता रख दी। मेरे अंदर उनकी शक्ति प्रवेश कर गई और मैं गीता की साधना करने में समर्थ हुआ। मुझे केवल बुद्धि द्वारा ही नहीं, बल्कि अनुभूति द्वारा यह जानना पड़ा कि श्री कृष्ण की अर्जुन से क्या माँग थी और वे उन लोगों से क्या माँग करते हैं जो उनका कार्य करने की अभीप्सा रखते हैं, अर्थात् घृणा और कामना-वासना से मुक्त होना होगा, फल की इच्छा न रखकर भगवान् के लिए कर्म करना होगा, अपनी इच्छा का त्याग करना होगा और निश्चेष्ट तथा सच्चा यंत्र बनकर भगवान् के हाथों में रहना होगा, ऊँच और नीच, मित्र और शत्रु, सफलता और विफलता के प्रति समदृष्टि रखनी होगी और यह सब होते हुए भी उनके कार्य में कोई अवहेलना न आने पाये। मैंने यह जाना कि हिंदू धर्म का मर्म क्या है। बहुधा हम हिंदू धर्म, सनातन धर्म की बातें करते हैं, किंतु वास्तव में हममें से कम ही लोग ये जानते हैं कि यह धर्म क्या है। दूसरे धर्म मुख्य रूप से विश्वास और मान्यता को महत्व देते हैं, किंतु सनातन धर्म तो स्वयं जीवन है, यह इतनी विश्वास करने की चीज नहीं है जितनी जीवन में उतारने की चीज है। यही वह धर्म है जिसका लालन-पालन मानव-जाति के कल्याण के लिए प्राचीन काल से इस प्रायद्वीप के एकांत में होता आ रहा है। यही धर्म देने के लिए भारत उठ रहा है। भारतवर्ष, दूसरे देशों की तरह, अपने लिए ही या शक्तिशाली होकर दूसरों को कुचलने के लिए नहीं उठ रहा। वह उठ रहा है सारे संसार पर उस सनातन ज्योति को फैलाने के लिए जो उसे सौंपी गई है। भारत अपने लिए नहीं बल्कि सदैव ही मानव-जाति के लिए अस्तित्वमान रहा है, उसे अपने लिए नहीं बल्कि मानवजाति के लिए महान् होना होगा।

यह वह दूसरी बात थी जो भगवान् ने मुझसे कही,... भगवान् ने अपने चमत्कार दिखाये और मुझे हिंदू धर्म के वास्तविक सत्य की अनुभूति कराई। पहले मेरे अंदर अनेक प्रकार के संदेह थे। मेरा लालन-पालन इंग्लैंड में विदेशी विचारों और सर्वथा विदेशी वातावरण में हुआ था। एक समय मैं हिंदू धर्म की बहुत-सी बातों को मात्र कल्पना समझता था, यह समझता था कि इसमें बहुत कुछ केवल स्वप्न, भ्रम या माया है। परंतु अब दिन-प्रतिदिन मैंने हिंदू धर्म के सत्य को, अपनी बुद्धि में, अपने हृदय में और अपने शरीर में अनुभव किया। वे मेरे लिए जीवंत अनुभव हो गए और मेरे सामने ऐसी सब बातें प्रकट होने लगीं जिनके बारे में भौतिक विज्ञान कोई व्याख्या नहीं दे सकता।

उन दिनों जब मैं भगवान् की ओर बढ़ा तो मुझे उन पर जीवंत श्रद्धा न थी। उस समय मेरे अंदर अज्ञेयवादी था, नास्तिक था, संदेहवादी था और मुझे पूरी तरह विश्वास न था कि भगवान् हैं भी। मैं उनकी उपस्थिति का अनुभव नहीं करता था। फिर भी कोई चीज थी जिसने मुझे वेद के सत्य की ओर, गीता के सत्य की ओर, हिंदूधर्म के सत्य की ओर आकर्षित किया। मुझे लगा कि इस योग में कहीं पर कोई महाशक्तिशाली सत्य अवश्य है, वेदांत पर आधारित इस धर्म में कोई परम बलशाली सत्य अवश्य है। इसलिए जब मैं योग

की ओर मुड़ा और योगाभ्यास करके यह जानने का संकल्प किया कि मेरी बात सच्ची है या नहीं तो मैंने उसे इस भाव और प्रार्थना से शुरू किया, मैंने कहा, ''हे भगवान्, यदि तुम हो तो तुम मेरे हृदय की बात जानते हो। तुम जानते हो कि मैं मुक्ति नहीं माँगता, मैं ऐसी कोई वस्तु नहीं माँगता हूँ जो दूसरे माँगा करते हैं। मैं केवल इस राष्ट्र को ऊपर उठाने की शक्ति माँगता हूँ, मैं केवल यह माँगता हूँ कि मुझे इस देश के लोगों के लिए, जिनसे मैं प्यार करता हूँ, जीने और कर्म करने की आज्ञा मिले और यह प्रार्थना करता हूँ कि मैं अपना जीवन उनके लिए लगा सकूँ।''

इस योगयुक्त अवस्था में मुझे दो संदेश मिले। पहला यह था, ''मैंने तुम्हें एक काम सौंपा है और वह है इस राष्ट्र के उत्थान में सहायता देना।'' दूसरा संदेश आया, वह इस प्रकार था, ''इस एक वर्ष के एकांतवास में तुम्हें कुछ दिखाया गया है, वह चीज दिखायी गई है जिसके बारे में तुम्हें संदेह था, वह है हिंदूधर्म का सत्य। इसी धर्म को मैं संसार के सामने उठा रहा हूँ, यही वह धर्म है जिसे मैंने ऋषि-मुनियों और अवतारों के द्वारा विकसित किया और पूर्ण बनाया है और अब यह धर्म अन्य राष्ट्रों में मेरा काम करने के लिए बढ़ रहा है। मैं अपनी वाणी का प्रसार करने के लिए इस राष्ट्र को उठा रहा हूँ। यही वह सनातन धर्म है, यही वह शाश्वत धर्म है जिसे तुम पहले तो सचमुच नहीं जानते थे, किंतु जिसे अब मैंने तुम्हारे सामने प्रकट कर दिया है। तुम्हारे अंदर जो नास्तिकता थी, जो संदेह था उसका उत्तर दे दिया गया है, क्योंकि मैंने अंदर और बाहर, स्थूल और सूक्ष्म, सभी प्रमाण दे दिये हैं और उनसे तुम्हें संतोष हो गया है। जब तुम बाहर निकलो तो सदा अपने राष्ट्र को यही वाणी सुनाना कि वे सनातन धर्म के लिए उठ रहे हैं, वे अपने लिए नहीं बल्कि संसार के लिए उठ रहे हैं। मैं उन्हें संसार की सेवा के लिए स्वतंत्रता दे रहा हूँ। अतएव जब यह कहा जाता है कि भारतवर्ष ऊपर उठेगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म ऊपर उठेगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष महान् होगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म महान् होगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष बढ़ेगा और फैलेगा तो इसका अर्थ होता है सनातन धर्म बढ़ेगा और संसार पर छा जाएगा। धर्म के लिए और धर्म के द्वारा ही भारत का अस्तित्व है।

आपकी सभा का नाम है ''धर्मरक्षिणी सभा''। अस्तु, धर्म का संरक्षण, संसार के सामने हिंदू धर्म का संरक्षण और उत्थान – यही कार्य हमारे सामने है। परंतु हिंदू धर्म क्या है ? यह धर्म क्या है जिसे हम सनातन, शाश्वत कहते हैं? वह हिंदूधर्म इसी नाते है कि हिंदूजाति ने इसको रखा है, क्योंकि समुद्र और हिमालय से घिरे हुए इस प्रायद्वीप के एकांतवास में यह फला-फूला है, क्योंकि इस पवित्र और प्राचीन भूमि पर इसकी युगों तक रक्षा करने का भार आर्यजाति को सौंपा गया था। परंतु यह धर्म किसी एक देश की सीमा से घिरा नहीं है, यह संसार के किसी सीमित भाग के साथ विशेष रूप से और सदा के लिए

बँधा नहीं हैं। जिसे हम हिंदू धर्म कहते हैं वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यही वह विश्वव्यापी धर्म है जो दूसरे सभी धर्मों का आलिंगन करता है। यदि कोई धर्म विश्वव्यापी नहीं है तो वह सनातन भी नहीं हो सकता। कोई संकुचित, सांप्रदायिक, अनुदार धर्म केवल कुछ काल और किसी सीमित हेतु के लिए ही रह सकता है। यही एक ऐसा धर्म है जो अपने अंदर विज्ञान के आविष्कारों और दर्शनशास्त्र के चिंतनों का पूर्वाभास देकर और उन्हें अपने अंदर मिलाकर जड़वाद पर विजय प्राप्त कर सकता है। यही एक धर्म है जो मानवजाति के हृदय में यह बात बैठा देता है कि भगवान् हमारे निकट हैं, यह उन सभी संभव साधनों को अपने अंदर समाहित कर लेता है जिनके द्वारा मनुष्य भगवान् के पास पहुँच सकते हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो प्रत्येक क्षण, सभी धर्मों के माने हुए इस सत्य पर जोर देता है कि भगवान् हर आदमी और हर चीज में हैं तथा हम उन्हीं में चलते फिरते हैं और उन्हीं में हम निवास करते हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो इस सत्य को केवल समझने और उसपर विश्वास करने में ही हमारा सहायक नहीं होता बल्कि अपनी सत्ता के अंग-अंग में इसका अनुभव करने में भी हमारी सहायता करता है। यही एक धर्म है जो संसार को दिखा देता है कि संसार क्या है — वासुदेव की लीला। यही एक ऐसा धर्म है जो हमें यह बताता है कि इस लीला में हम अपनी भूमिका अच्छी-से-अच्छी कैसे निभा सकते हैं, जो हमें यह दिखाता है कि इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म नियम क्या हैं, इसके महान्-से-महान् विधान कौन से हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो जीवन की छोटी-से-छोटी बात को भी धर्म से अलग नहीं करता, जो यह जानता है कि अमरता क्या है और जिसने मृत्यु की वास्तविकता को हमारे अंदर से पूर्णतः निकाल दिया है।

मैं कहता हूँ यह सनातन धर्म ही है जो हमारे लिए राष्ट्रवाद है। ...यह हिंदू राष्ट्र सनातन धर्म के साथ ही पैदा हुआ था, उसके साथ ही यह आगे बढ़ा है और उसके साथ ही यह विकसित हो रहा है। जब सनातन धर्म का ह्रास (पतन) होता है तो राष्ट्र का भी पतन होता है और अगर सनातन धर्म नष्ट होने के योग्य हो तो सनातन धर्म के साथ ही यह भी नष्ट हो जाएगा। सनातन धर्म, यह ही राष्ट्रवाद है।

...अपने अंतस्तल में इसे (हिन्दू धर्म को) सदैव यह ज्ञान रहा है कि यदि धर्म को कतिपय संतों और विचारकों के लिए ही नहीं बल्कि जनसाधारण के लिए एक वास्तविक वस्तु बनना हो तो उसे हमारी समग्र सत्ता को, केवल अतिबौद्धिक और बौद्धिक भावों को ही नहीं बल्कि अन्य सभी भागों को अपनी पुकार सुनानी होगी। कल्पना, भावावेग और सौंदर्य बुद्धि को, यहाँ तक कि अर्द्ध-अवचेतन भागों की निज सहज-वृत्तियों को भी अपने प्रभाव में लाना होगा।

यहाँ एक ऐसा दर्शन विद्यमान है जो अनंत की साक्षात् वास्तविकता पर तथा निरपेक्ष के प्रबल दावे पर आधारित है। और यह कोई अनुमान करने की वस्तु नहीं है, बल्कि एक वास्तविक उपस्थिति एवं शाश्वत शक्ति है जो मनुष्य की अंतरात्मा की माँग करती तथा उसे अपनी ओर बुलाती है। यहाँ उसे एक ऐसी मनोवृत्ति दिखायी देती है जो प्रकृति में, मनुष्य और पशु में तथा जड़ पदार्थ में भगवान् को देखती है; आदि, मध्य और अंत में, यत्र-तत्र-सर्वत्र भगवान् ही के दर्शन करती है।

और यह सब कल्पना की कोई ऐसी स्वीकार्य काव्यमय क्रीड़ा नहीं है जिसे अत्यंत गंभीरतापूर्वक लेना जीवन के लिए आवश्यक न हो, बल्कि इसे एक ऐसी वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिसे जीवन में उतारना, चरितार्थ करना, यहाँ तक कि बाह्य कर्म के पीछे बनाए रखना और विचार, अनुभव तथा व्यवहार के उपादान में परिणत कर डालना आवश्यक है। और पूरी-की-पूरी साधन-पद्धतियाँ इसी उद्देश्य के लिए सुव्यवस्थित की गई हैं, जिनका लोग आज भी पालन करते हैं। और सारा जीवन परम पुरुष, जगदीश्वर, एकमेव, निरपेक्ष एवं अनंत की इस खोज में ही होम कर दिया जाता है।

और इस अपार्थिव लक्ष्य का अनुसरण करने के लिए आज भी मनुष्य बाह्य जीवन, समाज, घर, परिवार तथा अपने अत्यंत प्रिय विषयों को एवं उस सबको, जो तर्कप्रधान मन के लिए सच्चा तथा ठोस मूल्य रखता है, त्याग देने में संतोष अनुभव करते हैं। यहाँ एक ऐसा देश है जिस पर अभी तक संन्यासी की पोशाक का गेरुआ रंग खूब पक्का चढ़ा हुआ है, जहाँ अभी तक परात्पर का एक सत्य के रूप में प्रचार किया जाता है और मनुष्य अन्य लोकों तथा पुनर्जन्म में और प्राचीन विचारों की उस संपूर्ण शृंखला में जीवंत विश्वास रखते हैं जिनकी सत्यता भौतिक विज्ञान के उपकरणों के द्वारा बिल्कुल भी नहीं परखी जा सकती। यहाँ योग के अनुभवों को वैज्ञानिक प्रयोगशाला के परीक्षणों के समान या उनसे भी अधिक वास्तविक माना जाता है।

हिंदू धर्म के रीति-रिवाज, आचार-अनुष्ठान, इसकी पूजा और उपासना की प्रणाली केवल तभी समझ में आ सकती है जब हम इसके मूल स्वरूप को ध्यान में रखें। सर्वप्रथम, यह कट्टरता से रहित एक सर्व-समावेशी धर्म है, और यदि इस्लाम और ईसाइयत समावेश की प्रक्रिया को सहन करते तो यह उन्हें भी अपने अंदर मिला लेता। इसके मार्ग में जो कुछ भी आया है वह सब इसने अपने अंदर ले लिया है, और यदि वह अतिभौतिक लोकों के सत्य तथा अनंत के सत्य के साथ अपने रूपों का कोई यथार्थ संबंध स्थापित कर सका तो वह संतुष्ट रहा है।

धर्म को अतिबौद्धिक एवं आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति में मनुष्य का मार्गदर्शक बनना होगा और अपने मार्ग में इसे आलोकित बुद्धि की सहायता लेनी होगी, परंतु वह हमारी जटिल प्रकृति के शेष भागों को भगवान् की ओर पुकारने से नहीं चूक सकता। और इसे फिर प्रत्येक मनुष्य को, जहाँ वह स्थित है वहीं से, हाथ में लेना होगा और वह जो कुछ भी अनुभव कर सकता है उसी के द्वारा उसे आध्यात्मिक बनाना होगा, न कि उस पर तुरंत कोई ऐसी चीज थोप देनी होगी जिसे वह अभी एक सच्ची और सजीव शक्ति के रूप में हृदयंगम नहीं कर सकता। यही हिंदूधर्म के उन अंगों का अभिप्राय और उद्देश्य है जिन्हें प्रत्यक्षवादी बुद्धि तर्कहीन या तर्कविरुद्ध कहकर विशेष रूप से कलंकित करती है।

युरोपीय मन इस सीधी-सादी आवश्यकता को समझने में असफल रहा है अथवा उसने इसे तुच्छता की दृष्टि से देखा है। वह धर्म को आत्मा के द्वारा नहीं वरन् बुद्धि के द्वारा ''शुद्ध करने'' पर, आत्मा के द्वारा नहीं वरन् बुद्धि के द्वारा ''सुधारने'' पर जोर देता है। और हम देख चुके हैं कि युरोप में इस प्रकार के पवित्रीकरण और सुधार के क्या परिणाम हुए हैं। इस अज्ञानपूर्ण चिकित्सा का अचूक परिणाम प्रथम तो धर्म को दुर्बल करना और फिर धीरे-धीरे मार डालना ही हुआ है, रोगी इलाज का शिकार हो गया है, जब कि वह रोग से भली-भाँति मुक्त होकर दीर्घजीवी हो सकता था।

पश्चिमी मन के लिए नैतिकता अधिकांशतः बाह्य आचार की वस्तु है; परंतु भारतीय मन के लिए बाह्य आचार आत्मिक स्थिति की अभिव्यक्ति का एक साधन एवं चिह्नमात्र है। हिंदूधर्म केवल प्रसंगवश ही कुछ आदेशों को एक सूत्र में पिरो देता है, नैतिक नियमों की एक तालिका दे देता है; पर अधिक गहरे रूप में वह मन की एक आध्यात्मिक या नैतिक शुद्धता का आदेश देता है और कर्म उस शुद्धता का केवल एक बाह्य लक्षण है। वह अति बलपूर्वक, प्रायः अत्यंत बलपूर्वक कहता है, ''तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये'', परंतु इस आदेश पर अधिक दृढ़ता के साथ बल देता है कि ''तुझे घृणा नहीं करनी होगी; लोभ, क्रोध या द्वेष के वश में नहीं होना होगा'', क्योंकि ये ही हिंसा के मूल कारण हैं।

... हिंदूधर्म सापेक्ष मानदंडों को स्वीकार करता है जो एक ऐसी बुद्धिमत्ता है जो युरोपीय समझ के लिए अत्यंत कठिन है। हिंसा न करना उसका सर्वोच्च नियम है, **अहिंसा परमो धर्मः**; तथापि वह इसे योद्धा के लिए एक स्थूल नियम के रूप में प्रस्थापित नहीं करता, बल्कि उससे युद्ध न करने वाले, दुर्बल, निरस्त्र, पराजित, बंदी, आहत और पलायनकारी के प्रति दया, संरक्षण और आदर की आग्रहपूर्वक माँग करता है, और इस तरह समस्त जीवन के लिए एक अत्यंत निरपेक्ष नियम की अव्यवहार्यता से बच जाता है। इस अंतर्मुखता और इस बुद्धिमत्तापूर्ण सापेक्षता को समझने की भूल ही, संभवतः, अत्यधिक मिथ्या प्रस्तुतीकरण के लिए उत्तरदायी है।

पाश्चात्य नीतिशास्त्री पूर्णता के उपदेश के रूप में एक उच्च मानदंड स्थापित करना चाहता है और यदि उस मानदंड का आदर उसके अनुसरण की अपेक्षा उसके उल्लंघन से ही अधिक हो तो भी उसे इसकी कोई विशेष परवाह नहीं; भारतीय आचारशास्त्र उतना ही ऊँचा और प्रायः उससे भी ऊँचा मानदंड स्थापित करता है; परंतु जीवन के सत्य की अपेक्षा ऊँचे-ऊँचे दावों से कम संबंध रखने के कारण यह उन्नति की क्रमिक अवस्थाओं को स्वीकार करता है और निचली अवस्थाओं में यह उन लोगों को यथासंभव नैतिक बनाने से ही संतुष्ट रहता है जो अभी उच्चतम नैतिक विचारों और आचार-व्यवहार के योग्य नहीं हैं।

हम हिंदू हैं और स्वभावतया अपनी चित्त-प्रकृति में आध्यात्मिक हैं, क्योंकि हमें मानवता के लिए जो काम करना है वह ऐसा काम है जो और दूसरा कोई राष्ट्र संपन्न नहीं कर सकता। ...भारत आध्यात्मिक प्रयोग की भव्य कार्यशाला, आत्मा की प्रयोगशाला रहा है।

मुसलमान अपने अलगाव और अपने को पहले भारतीय और बाद में मुसलमान मानने से इंकार करने का आधार महान् मुस्लिम राष्ट्रों को बनाते हैं जिनके साथ वे हमारी अपेक्षा अधिक भाईचारा महसूस करते हैं, बावजूद हमारे समान जन्म और रक्त के। हिंदूओं के ऐसे कोई संसाधन नहीं हैं। अच्छे या बुरे के लिए वे इस भूमि के साथ ही बँधे हुए हैं, केवल इस भूमि के साथ ही। वे अपनी माता को अस्वीकार नहीं कर सकते और न उसे खंडित ही कर सकते हैं। इसलिए हमारा आदर्श एक भारतीय राष्ट्रवाद है, अपनी भावना और परंपराओं में अधिकांशतः हिंदू, क्योंकि हिंदू ने ही यह भूमि और लोग बनाए और अपने अतीत, सभ्यता और संस्कृति की महानता तथा अजेय पौरुष से वह उसे ग्रहण किए हुए है; पर इतना व्यापक भी कि उसमें वह मुसलमान और उसकी संस्कृति और परम्पराओं को भी सम्मिलित कर सके और अपने में आत्मसात् कर सके।

पर यह (वन्दे मातरम्) कोई धार्मिक गीत तो है नहीं : यह तो एक राष्ट्रीय गीत है और जिस दुर्गा का उल्लेख है, वह माँ के रूप में भारत का है। तो मुसलमानों को उसे क्यों स्वीकार नहीं करना चाहिए? वह तो एक प्रतिरूप है जिसका कविता में प्रयोग किया गया है। राष्ट्रीयता की भारतीय संकल्पना में स्वभावतया ही हिंदू दृष्टि होगी। यदि उसे यहाँ स्थान नहीं मिलता तो फिर हिंदूओं को अपनी संस्कृति को ही त्याग देने को कह दिया जाए।

जहाँ तक हिंदु-मुस्लिम मामले का संबंध है, मुझे कोई कारण नहीं दिखाई दिया कि क्यों मुसलमानों की तुष्टि के लिए भारत के अतीत की महानता अथवा उसकी आध्यात्मिकता को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाए। वे ऐसी नीति से बिल्कुल तुष्ट होने वाले नहीं।

हिन्दू धर्म - सनातन धर्म

हमारे पास केवल एक ही मानदंड है जो कि एक साथ ही विश्वव्यापी और विशिष्ट है। और वह मानदंड है सनातन धर्म। यही वह आधार है – जो कि भारत में चिरस्थाई रूप से अन्तर्निहित है – उस स्थानान्तरणशील, परिवर्तनशील और नानाविध चीज का जिसे हिन्दू धर्म कहते हैं। सनातन धर्म का तात्पर्य है हमारे आन्तरिक जीवन तथा बाहरी अस्तित्व में, व्यक्ति और समाज दोनों में भगवान् की उपलब्धि। **एषः धर्मः सनातनः।**

जिस धार्मिक संस्कृति को हम आज हिन्दू धर्म के नाम से पुकारते हैं... उसने अपना कोई नाम नहीं रखा, क्योंकि उसने स्वयं की कोई सांप्रदायिक सीमा नहीं बाँधी; उसने सारे संसार को अपना अनुयायी बनाने का दावा नहीं किया, किसी एकमात्र निर्दोष सिद्धांत की प्रस्थापना नहीं की, मुक्ति का कोई एक ही संकीर्ण पथ या द्वार निश्चित नहीं किया, वह कोई मत या पंथ की अपेक्षा कहीं अधिक मानव आत्मा के ईश्वरोन्मुख प्रयास की एक सतत्-विस्तारशील परंपरा थी। आध्यात्मिक आत्म-निर्माण और आत्म-उपलब्धि के लिए एक विशाल बहुमुखी व बहुअवस्थाओं वाली व्यवस्था होने के कारण उसे अपने विषय में 'सनातन धर्म' के उस एकमात्र नाम से, जिसे वह जानती थी, चर्चा करने का कुछ अधिकार था। यदि भारतीय धर्म के इस भाव और भावना का हम समुचित और यथार्थ मूल्य आँक सकें तो ही हम भारतीय संस्कृति के सच्चे भाव और भावना को समझ सकते हैं।

अब, ठीक यहीं वह पहली चकरा देने वाली कठिनाई उपस्थित होती है जिसपर युरोपीय मन लड़खड़ा जाता है; क्योंकि वह हिंदू धर्म का तात्पर्य समझने में अपने को असमर्थ पाता है। वह पूछता है – कहाँ है इसकी आत्मा? कहाँ है इसका मन और स्थिर विचार और किधर है इसके शरीर का आकार? भला कोई ऐसा धर्म कैसे हो सकता है जिसके अंदर कोई ऐसे कठोर सिद्धांत न हों जो अनंत नरकवास की यंत्रणा पर विश्वास करने की माँग करते हों, जिसके अंदर कोई ऐसे धर्मतत्त्वसंबंधी स्वतःसिद्ध मंतव्य न हों, यहाँ तक कि कोई ऐसा निश्चित धर्मशास्त्र एवं कोई धर्मविश्वास न हों जो उसे विरोधी या प्रतिस्पर्धी धर्मों से पृथक् करता हो, भला कोई ऐसा धर्म हो ही कैसे सकता है जिसका कोई पोप-सदृश अध्यक्ष न हो, कोई शासक धर्म-संघ न हो, कोई चर्च, उपासनालय या सभा-संगठन न हो, किसी प्रकार का अनिवार्य धार्मिक आचार न हो जिसका पालन उसके सभी अनुयायियों के लिए आवश्यक हो, जिसमें कोई एक ही शासन-व्यवस्था और अनुशासन न हो? क्योंकि, हिन्दू पुरोहित तो केवल संस्कार कराने वाले कार्यकर्ता हैं जिनके पास न कोई धर्मसंबंधी अधिकार होता है और न अनुशासनात्मक सत्ता और पंडित तो महज शास्त्र व्याख्याता होते हैं, वे न तो धर्म के विधायक होते हैं और न इसके शासक। और फिर हिन्दूधर्म को धर्म कहा ही कैसे जा सकता है जब कि यह सभी विश्वासों को स्वीकार करता है, यहाँ तक कि एक प्रकार के उच्चाकांक्षी नास्तिकतावाद एवं अज्ञेयवाद को भी मान्यता देता है और सभी संभव आध्यात्मिक अनुभवों को, सब प्रकार के धार्मिक अभियानों को अंगीकार करता है?

भारतीय धर्म ने अपनी नींव काल, नाम और रूप से रहित परम सत् की परिकल्पना पर प्रतिष्ठित की, परंतु नवीनतर जातियों के संकीर्णतर और अज्ञतर एकेश्वरवादों की भाँति सनातन एवं अनंत के सभी मध्यवर्ती रूपों, नामों, शक्तियों और व्यक्तित्वों का निषेध या उच्छेद करने की प्रवृत्ति कभी नहीं अनुभव की। रंग-रूपहीन अद्वैतवाद या निस्तेज, अस्पष्ट विश्वातीत ईश्वरवाद इसका आदि, मध्य और अंत नहीं था। इसमें एकमेव परमेश्वर की सर्व के रूप में पूजा की जाती है, क्योंकि विश्व की सभी चीजें वह परमेश्वर ही हैं या फिर वे उनकी सत्ता या प्रकृति से बनी हुई हैं। परंतु इसी कारण भारतीय धर्म विश्वेश्वरवाद नहीं बन जाता; क्योंकि इस विश्वमयता से परे यह विश्वातीत सनातन को भी स्वीकार करता है। भारतीय बहुदेववाद प्राचीन युरोप में प्रचलित बहुदेववाद के जैसा नहीं है; क्योंकि यहाँ अनेक देवताओं की पूजा करने वाला व्यक्ति उनकी पूजा करता हुआ भी यह जानता है कि उसके सभी देवता एकमेव के रूप, नाम, व्यक्तित्व एवं शक्तियाँ हैं; उसके सब देव एक ही 'पुरुष' से निकलते हैं, उसकी देवियाँ एक ही भागवत् शक्ति की शक्तियाँ हैं। भारतीय धर्म-मत के जो रूप एकेश्वरवाद के प्रचलित रूप से अत्यधिक मिलते-जुलते हैं वे इसके अतिरिक्त कुछ और चीज भी हैं, क्योंकि वे परमेश्वर के अनेक रूपों को बहिष्कृत नहीं बल्कि स्वीकृत करते हैं। भारतीय मूर्तिपूजा बर्बर या अविकसित मन की बुतपरस्ती नहीं है, क्योंकि अत्यंत अज्ञानी भारतीय भी यह जानते हैं कि मूर्ति एक प्रतीक एवं अवलंबन है और इसका उपयोग समाप्त होने पर वे इसे फेंक सकते हैं। बाद के धार्मिक रूप, जिन्होंने इस्लामी विचार के प्रभाव को अत्यधिक अनुभव किया, जैसे, नानक की 'अकाल', अर्थात् कालातीत एकमेव की पूजा, और आज के सुधारक मत जो पश्चिम के प्रभाव से जन्मे हैं, वे भी पश्चिमी या सेमिटिक (यहूदी, अरब आदि जातियों के) एकेश्वरवाद की सीमाओं से पृथक् रहते हैं। वे इन बचकाने विचारों से विवशता से वेदांत के अगाध सत्य की ओर मुड़ जाते हैं। भगवान् के दैवी व्यक्तित्व पर और मनुष्य के साथ उनके दैवी संबंधों पर वैष्णव और शैव धर्मों ने एक अत्यंत क्रियाशील सत्य के रूप में बहुत अधिक बल दिया है; परंतु इन धर्मों का सर्वस्व इतना ही नहीं है, और यह दैवी व्यक्तित्व पश्चिम का सीमित, मानव का परिवर्द्धित संस्करण-रूप साकार ईश्वर नहीं है। भारतीय धर्म का निरूपण पश्चिमी बुद्धि की जानी हुई परिभाषाओं में से किसी के भी द्वारा नहीं किया जा सकता। अपने समग्र रूप में यह समस्त आध्यात्मिक पूजा और अनुभूति का स्वतंत्र एवं सहिष्णु समन्वय रहा है। एकमेव सत्य को उसके अनेकों पार्श्वों से देखते हुए इसने किसी भी पार्श्व के लिए अपने द्वार बंद नहीं किये। इसने न तो अपने को कोई विशेष नाम दिया और न अपने को किसी सीमाकारी पार्थक्य से आबद्ध ही किया। अपने अंगभूत मतों और विभागों के लिए पृथक् नामों को स्वीकार करता हुआ यह स्वयं अपनी चिरंतन जिज्ञासा के विषय ब्रह्म की तरह नाम-रूप-रहित, विश्वव्यापी और अनंत ही बना रहा। अपने परंपरागत शास्त्रों, पूजापद्धतियों और प्रतीकों के द्वारा अन्य मतविश्वासों से सुस्पष्टतया भिन्न होता हुआ

भी यह अपने मूल स्वरूप में कोई मत-विश्वासात्मक धर्म बिल्कुल नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक संस्कृति की एक विशाल, बहुमुखी, सदा एकत्व लाने वाली और सदा-प्रगति-परायण एवं आत्म-विस्तारशील प्रणाली है।

भारतीय धार्मिक मन के इस समन्वयात्मक स्वरूप और सर्वसमावेशी एकत्व पर बल देना आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा हम भारतीय जीवन के संपूर्ण अर्थ तथा भारतीय संस्कृति के समस्त आशय को खो बैठेंगे।

१. हिन्दू धर्म के तीन मौलिक तत्त्व

... यदि हमसे पूछा जाए, 'परंतु आखिरकार हिंदूधर्म है क्या, यह सिखाता क्या है, इसकी नित्यचर्या क्या है, इसके सर्वसम्मत अंग कौन से हैं'? तो इसका उत्तर हम यह दे सकते हैं कि भारतीय धर्म तीन आधारभूत विचारों या यूँ कहें कि एक उच्चतम विशालतम आध्यात्मिक अनुभव के तीन मूलतत्त्वों पर प्रतिष्ठित है। पहला है वेद के उस 'एकं सत्' का विचार जिसे ज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न नाम देते हैं, जो उपनिषदों का एकमेवाद्वितीय है, जो यहाँ जो कुछ है वह 'सब' है, और इस सब कुछ से परे भी है, बौद्धों के शाश्वत तत्त्व का, मायावादियों के ब्रह्म का, ईश्वरवादियों के उस परम ईश्वर या पुरुष का जो जीव और प्रकृति को अपनी शक्ति के अंदर धारण करता है, – एक शब्द में सनातन का, अनंत का। यह पहला सर्वसम्मत आधार है; परंतु मानव बुद्धि इसे अनंत प्रकार के सूत्रों में प्रकट कर सकती है और करती है। इन शाश्वत, इन अनंत, इन सनातन को खोजना, इनके अत्यंत निकट पहुँचना तथा इनके साथ किसी प्रकार का या किसी मात्रा में एकत्व प्राप्त करना ही इसके आध्यात्मिक अनुभव का उच्चतम शिखर एवं चरम प्रयास है। यही भारत के धार्मिक मन का पहला सर्वस्वीकृत 'विश्वास' (Credo) है।

इस आधार को किसी भी सूत्र के रूप में स्वीकार करो, भारत में माने जाने वाले सहस्रों पथों में से किसी एक के द्वारा या, यहाँ तक कि, उनसे निकलने वाले किसी नये पथ के द्वारा इस महान् आध्यात्मिक लक्ष्य का अनुसरण करो, तो तुम इस धर्म के मर्म पर पहुँच जाओगे। क्योंकि, इसका दूसरा मूलभूत विचार यह है कि सनातन एवं अनंत के पास मनुष्य नानाविध मार्गों से पहुँच सकता है। अनंत अनेक अनंतताओं से पूर्ण है और इन अनंतताओं में से प्रत्येक, अपने-आप में, वह सनातन ही है। और यहाँ सृष्टि की सीमाओं के भीतर परमेश्वर अनेक मार्गों से अपने-आपको संसार में अभिव्यक्त और चरितार्थ करते हैं, परंतु प्रत्येक मार्ग उन सनातन ही का है। क्योंकि, प्रत्येक सीमित में हम असीम को खोज सकते हैं और उनके आकारों एवं प्रतीकों के रूप में सभी चीजों के द्वारा हम उनके पास पहुँच सकते हैं; सब वैश्व शक्तियाँ उस एकमेव की अभिव्यक्तियाँ हैं, सब बल उसी के बल हैं। प्रकृति के कार्य-व्यापार के पीछे विद्यमान देवताओं को एक ही देवाधिदेव की शक्तियों, नामों और व्यक्तित्वों के रूप में देखना और पूजना होगा। एक ही अनंत

चित्-शक्ति, कार्य-संचालक शक्ति, परम संकल्प बल या विधान, माया, प्रकृति, शक्ति या कर्म सभी घटनाओं के पीछे अवस्थित है चाहे वे हमें अच्छी लगें या बुरी, स्वीकार्य लगें या अस्वीकार्य, सौभाग्यपूर्ण लगें या दुर्भाग्यपूर्ण। वे 'अनंत' सृष्टि करते हैं और ब्रह्मा कहलाते हैं; वे प्रतिपालन करते हैं और विष्णु कहलाते हैं; वे संहार करते हैं या अपने अंदर समेट लेते हैं और रुद्र या शिव कहलाते हैं। परमा शक्ति, जो स्थिति एवं रक्षा के कर्म में दयाशील हैं, जगन्माता, लक्ष्मी या दुर्गा हैं या फिर वह इन रूपों को धारण करती हैं। अथवा संहार के छद्मवेश में भी दयाशील वे चण्डी हैं या वे काली अर्थात् कृष्णवर्णा माँ हैं। एकमेव परमेश्वर अपने-आपको अपने गुणों के रूप में नानाविध नामों और देवताओं में प्रकट करते हैं। वैष्णव का दिव्य-प्रेममय ईश्वर और शाक्त का दिव्य-शक्तिमय ईश्वर दो विभिन्न देवता प्रतीत होते हैं; पर वास्तव में वे विभिन्न रूपों में एक ही अनंत देव हैं। मनुष्य इन नामों और रूपों में से किसी के भी द्वारा, ज्ञानपूर्वक या अज्ञानावस्था में, उन परम के पास पहुँच सकता है; क्योंकि इनके द्वारा और इनके परे हम अंततोगत्वा परमोच्च अनुभव की ओर बढ़ सकते हैं।

परंतु एक बात ध्यान में रखने की आवश्यकता है। वह यह कि जहाँ आधुनिकता में रंगे हुए अनेक भारतीय धर्मवादी आधुनिक जड़पंथी युक्तिवाद के साथ एक बौद्धिक समझौते के तौर पर इन चीजों को प्रतीक कहकर उड़ा देने की प्रवृत्ति रखते हैं, वहाँ प्राचीन भारतीय धार्मिक मन, इन्हें केवल प्रतीकों के ही नहीं बल्कि जगत्-सत्यों के रूप में देखता था, — भले ये मायावादी के लिए केवल मायामय जगत् के ही सत्य क्यों न हों। क्योंकि, भारत के आध्यात्मिक और आंतरात्मिक ज्ञान ने उच्चतम कल्पनातीत सत्ता और हमारी भौतिक जीवन-प्रणाली के बीच दो संबंधरहित विरोधी तत्त्वों की तरह कोई खाई नहीं खोद डाली थी। वह चेतना और अनुभव के अन्य मनोवैज्ञानिक स्तरों से परिचित था और उसके लिए इन अतिभौतिक स्तरों के सत्य जड़ जगत् के बाह्य सत्यों की अपेक्षा कुछ कम वास्तविक नहीं थे। मनुष्य पहले-पहल अपनी मनोवैज्ञानिक प्रकृति, और गंभीरतर अनुभव के लिए अपनी योग्यता, अर्थात् स्वभाव और क्षमता के अनुसार ही परमेश्वर के पास पहुँचता है। सत्य के किस स्तर एवं चेतना के किस आयाम तक वह पहुँच सकता है यह उसके आंतरिक विकास की अवस्था के द्वारा निर्धारित होता है। उसी से धर्म-संबंधी नाना मत-सिद्धांतों का जन्म होता है, परंतु उनके द्वारा स्वीकृत तत्त्व कोई काल्पनिक रचनाएँ, पुरोहितों या कवियों के आविष्कार नहीं होते, बल्कि वे भौतिक जगत् की चेतना और ब्रह्म की अनिर्वचनीय अतिचेतना के बीच की अतिभौतिक सत्ता के सत्य होते हैं।

भारतीय धर्म के मूल में जो परम-महत्त्वपूर्ण विचार काम कर रहा है वह आंतरिक आध्यात्मिक जीवन के लिए अत्यंत शक्तिशाली है। वह यह है कि जहाँ परम 'तत्' या भगवान् को विश्व-चेतना में से होकर और समस्त आंतर एवं बाह्य प्रकृति को भेदकर तथा

इन्हें पार करके प्राप्त किया जा सकता है, वहीं प्रत्येक व्यष्टि-जीव अपने अंदर, अपनी ही सत्ता के आध्यात्मिक भाग के अंदर, उन्हीं 'तत्' या भगवान से मिल सकता है क्योंकि उसमें कोई ऐसी वस्तु है जो एकमेव भागवत सत्ता के साथ घनिष्ठतः एकीभूत या कम-से-कम घनिष्ठतः जुड़ी हुई है। भारतीय धर्म का सार एक ऐसे विकास और जीवन को लक्ष्य बनाना है जिससे हम अज्ञान को, जो इस आत्मज्ञान को हमारे मन और प्राण से छुपाये रखता है, अतिक्रम करके अपने अंतःस्थित भगवान् को जान सकें। ये ही तीन तत्त्व एक साथ मिलकर हिंदूधर्म का सर्वस्व हैं, इसका मूल भाव हैं और, यदि किसी 'विश्वास' की आवश्यकता हो तो, ये ही इसका विश्वास भी हैं।

२. सतही व संकीर्ण हिन्दू धर्म

भारत का आदमी अपना जीवन ''शास्त्र'' से नहीं बल्कि प्रथा और निकटतम ब्राह्मण के मत के अनुसार संचालित करता है। व्यवहार में यह कुछ रीतियों आदि के अनुपालन और सामाजिक प्रथाओं में ही सिमट कर रह जाता है जिनका न तो वह आध्यात्मिक अर्थ ही समझता है और न उनके व्यावहारिक उपयोग के विषय में कुछ जानता है। शास्त्रों को बिना जाने उन्हें आदर देना और उनके स्थान पर रीति-रिवाजों का पालन करना; सभी ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहे वे सम्मान योग्य हों अथवा निंदनीय; समाज में हीन व्यक्ति द्वारा पकाया हुआ कुछ भी न खाना; तरुणाई से पहले ही अपनी पुत्री का और उसके पश्चात् यथाशीघ्र अपने पुत्र का विवाह कर डालना; स्त्रियों को अशिक्षित और घरेलू काम के उपयुक्त बनाए रखना; निष्ठापूर्वक स्नान करना और कुछ निश्चित प्रक्षालनों का अनुपालन; भूमि पर बैठ भोजन करना, टेबुल पर नहीं; दिन में दो बार अपनी भजन भक्ति करना, पर बिना उन्हें समझे ही; अपने दैनिक व्यवहार में अनेक अर्थहीन व्रतों का पालन करना; हिंदू त्यौंहारों की छुट्टियाँ मनाना, जब एक प्रतिमा स्थापित की जाती है, पूजी जाती है और फिर विसर्जित कर दी जाती है – यह है भारत में धर्म का न्यूनतम स्वरूप। हिंदुत्व और सनातन धर्म के नाम से इसकी उच्च प्रशंसा की जाती है। यदि इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति में भावनागत या आनन्दातिरेकीय धार्मिकता है तो वह एक भक्त है; यदि वह वेदों, उपनिषदों, दर्शनों और पुराणों के संबंध में धाराप्रवाह बात कर सकता है तो वह ज्ञानी है। यदि वह एक पीत वस्त्र धारण कर लेता है और कोई कार्य नहीं करता तो वह एक त्यागी या संन्यासी है। संन्यासी को सामान्य धर्म से मुक्ति मिल जाती है, पर तभी जब वह कुछ न करे, बस भीख माँगे और निष्क्रिय रहे।

३. बृहत्तर हिंदुत्व - भावी विश्व-धर्म

यह दुनिया मुक्त विचार और भौतिकवाद के अंतरालों से होती हुई धार्मिक विचार और अनुभव के एक नवीन समन्वय की ओर अग्रसर रहती है। एक ऐसे समन्वय की ओर जिसमें विश्व का धार्मिक जीवन असहिष्णुता से मुक्त होते हुए भी आस्था और उत्साह से

भरा होता है तथा धर्म के सभी रूपों को स्वीकृति प्रदान करता है क्योंकि एकमेव में उसकी अविचल आस्था होती है। यह एक ऐसा धर्म है जो विज्ञान और श्रद्धा को, ईश्वरवाद, ईसाई, इस्लाम और बौद्ध धर्म को अपने में समेटे होता है, फिर भी यह इनमें से कोई भी नहीं होता है। यही वह धर्म है जिसकी ओर जगत्-सत्ता गतिशील है। हमारा अपना धर्म सब धर्मों से अधिक संशयशील और सर्वाधिक आस्तिक है। यह सर्वाधिक संशयशील इसलिए है क्योंकि इसने सबसे अधिक प्रश्न उठाए हैं और प्रयोग किए हैं। यह सर्वाधिक आस्तिक इसलिए है क्योंकि इसने गहनतम अनुभवों की तथा सर्वाधिक विविध और सकारात्मक आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि की है। वह वृहत्तर हिंदुत्व जो एक मतवाद या मतवादों का समूह मात्र नहीं है, बल्कि जीवन का एक विधान है, जो एक सामाजिक ढाँचा नहीं, बल्कि पूर्व और भावी विकास की आत्मा है। यह बृहत्तर हिंदुत्व किसी भी चीज़ को नकारता नहीं है बल्कि हर चीज़ की जाँच-परख और अनुभूति करने का आग्रह रखता है और तदुपरान्त उस चीज़ को सत्ता के लिए उपयोगी बना लेता है। इसी हिंदुत्व में हमें भावी विश्व-धर्म का आधार दिखाई पड़ता है। इस सनातन धर्म के अनेक शास्त्र हैं, यथा वेद, वेदान्त, गीता, उपनिषद्, दर्शन, पुराण और तंत्र और न यह बाइबिल और कुरान को ही नकार सकता है। लेकिन इसका सर्वाधिक प्रामाणिक शास्त्र तो मनुष्य के हृदय में है, हृदय जो भगवान् का निवास स्थान है। हमारे आंतरिक आध्यात्मिक अनुभवों में ही हमें दुनिया के सभी शास्त्रों का प्रमाण और स्रोत मिलेगा और वहीं मिलेगा हमारे ज्ञान, प्रेम और व्यवहार का विधान तथा हमारे कर्मयोग की प्रेरणा और आधार।

जीवन का एक प्रबल विधान है, मानव विकास का एक महान् नियम है आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव की एक राशि है जिसके संरक्षक, प्रतिमान (उदाहरण) और प्रसारक के रूप में भारत हमेशा से नियुक्त रहा है। यह सनातन धर्म है; शाश्वत धर्म है। विदेशी प्रभावों के दबाव में उसने न केवल उस धर्म के ढाँचे को बल्कि उसकी जीवन्त वास्तविकता को भी खो दिया है। क्योंकि यदि भारतीय धर्म को जीवन में न उतारा जाए तो वह कुछ भी नहीं है। इसे जीवन के किसी एक भाग पर नहीं बल्कि पूरे जीवन पर लागू करना होता है। इसकी मूल प्रकृति को हमारे समाज, हमारी राजनीति, हमारे साहित्य, हमारे विज्ञान, हमारे व्यक्तिगत चरित्र, भावनाओं और अभीप्साओं में उतरकर उन्हें नया स्वरूप प्रदान करना होता है। इस धर्म के मर्म को समझना, इसे एक जीवन्त सत्य के रूप में अनुभव करना, जिन उदात्त भावनाओं तक यह ऊपर उठता है उनको अनुभव करके उन्हें जीवन में व्यक्त तथा कार्यान्वित करना - यही है कर्मयोग से हमारा आशय।

औसत हिंदू 'रिलीजन' को धर्म के रूप में समझने की अपनी धारणा में, ईश्वरीय नियम के अनुसार जीवन जीने की समझ में सही है; परन्तु ईश्वरीय नियम पलायनकारी और अस्थाई प्रथाओं का समूह नहीं है, वह है, केवल अपने लिए नहीं बल्कि अपने और दूसरों के भीतर स्थित ईश्वर के लिए जीना, सारे जीवन को एक साधना बना देना जिसका उद्देश्य हो कर्म, प्रेम और ज्ञान के द्वारा संसार में ही ईश्वर को प्राप्त करना।

सभी धार्मिक प्रणालियों में सर्वाधिक सहिष्णु और ग्रहणशील हिंदूधर्म का आभ्यंतरिक तत्त्व ईसाइयत या इस्लाम की धार्मिक भावना की तरह तीव्र रूप से एकांगी नहीं है; जहाँ तक अपनी विशिष्ट शक्तिशाली प्रकृति को और अपनी सत्ता के विधान को खोये बिना संभव हो सकता था वहाँ तक वह समन्वयात्मक, अर्जनशील और समावेशकारी रहा है। सदा ही उसने सब ओर से ग्रहण किया है और अपने आध्यात्मिक हृदय में एवं अपने जाज्वल्यमान केन्द्र के प्रखर ताप में प्रज्वलित हो रही आत्मीकरण की शक्ति पर इस बात के लिए विश्वास किया है कि वह अत्यंत निराशाप्रद पदार्थ को भी उसकी आत्मा के लिए उपयुक्त रूपों में परिणत कर देगी।

... हिंदुत्व के आधार हैं सत्य और पौरुष, एषः धर्मः सनातनः। हिंदुत्व कोई सम्प्रदाय या हठवादी पंथ नहीं है, न यह नियम-कानूनों का कोई पुलिंदा या सामाजिक विधि-विधानों की कोई व्यवस्था ही है। इस सबके विपरीत यह तो एक प्रबल, शाश्वत और सार्वभौम सत्य है। इसने भगवान् की अनन्त सत्ता के साथ दिव्य पूर्णता के लिए मनुष्य की आत्मा को तैयार करने का रहस्य सीख लिया है। जीवन के विधि-विधान और कायदे-कानून तभी पवित्र और उपयोगी होते हैं जब वे उस महान् तैयारी में सहायक हों।

हिन्दू के स्वभाव का झुकाव केवल कर्म की ओर ही नहीं बल्कि कर्म में विचार और अभीप्सा को चरितार्थ करने की ओर है। शरीर भीतरी आदेश की अनुपालना करे उससे पहले अन्तश्चेतना द्वारा मनन का विधान है। हिन्दू का जीवन आन्तरिक होता है और उसके बाहरी जीवन का उद्देश्य होता है उसकी अपनी अन्तश्चेतना की गतियों का पुनर्सृजन। उसकी स्थाई जीवन्तता का रहस्य उसके विचार और कर्म के बीच का यह घनिष्ठ संबंध ही है। अन्य राष्ट्रों की तरह उसका बाहरी जीवन भी विकास और विनाश तथा महानता और अवनति के कालांशों के अधीन है परन्तु जहाँ अन्य राष्ट्रों की एक सीमा और अवधि है, इसकी कहीं नहीं।

हिन्दू धर्म के प्रति मेरी दृष्टि जवाहरलाल (नेहरु) की तरह नहीं है। धर्म सदैव अपूर्ण रहता है क्योंकि वह एक व्यक्ति की आध्यात्मिकता का उसके उन प्रयासों के साथ मिश्रण होता है जो उसकी अपनी निम्नतर प्रकृति को अज्ञानतापूर्वक उदात्त बनाने की कोशिश से उसमें आ जाते हैं। हिंदू धर्म मुझे एक गिरजाघर-मंदिर जैसा लगता है, आधा खंडहर, पिंड में भव्य, ब्यौरे में प्रायः काल्पनिक पर सदैव एक सार्थकता सहित काल्पनिक – कुछ जगहों पर ढहता हुआ या बुरी तरह घिसा-पिटा, पर एक ऐसा गिरजाघर-मंदिर जिसमें अदृश्य के प्रति उपासना अभी भी की जाती है और उसकी वास्तविक उपस्थिति उन लोगों द्वारा अनुभव की जा सकती है जो उसमें सही भावना से प्रवेश करते हैं।

इससे मुझे कोई भय नहीं लगता कि हिंदुत्व के खोखले, कीड़े खाये हुए बहिरंग धीरे-धीरे टूटकर और मरकर किसी आकस्मिक और विचित्र विघटन के शिकार हो रहे हैं। उनके भीतर मुझे एक सभ्यता की जीती-जागती आत्मा दिखलाई देती है, भले ही वह सोई पड़ी हो। उसके ऊपर मुझे ईश्वर का सांत्वनाप्रद वाक्य दिखाई देता है कि 'चूंकि तूने मुझमें विश्वास किया, इसलिए तू जीवित रहेगी, नष्ट नहीं होगी।'

साथ ही इस सजे-सजाए बहिरंग के भीतर, जो भड़कीला है पर सुंदर नहीं, आडंबरपूर्ण है पर महान नहीं, मिथ्याभिमानी है पर सुदृढ़ नहीं, मैं इस शेखी बघारने वाले, आक्रामक, प्रभावी युरोप को देख रहा हूँ और मैंने उसकी सभ्यता के कलेजे पर मृत्युदंड लिखा हुआ देखा है और हृदय से मस्तिष्क की ओर अभी से ही उठती हुई सर्वनाश की प्रतिच्छाया देखी है।

हिंदू विचार एवं साहित्य पर प्रायः ही यह दोष लगाया जा सकता है कि इसमें सर्वत्र ही निर्मम रूप से नैतिकता का दबाव है, कि हर जगह नैतिकता का स्वर बार-बार बजता है। अनंत के विचार के बाद धर्म का विचार ही इसका प्रधान तार है; धर्म ही इसके जीवन का आधार है। ऐसा कोई नैतिक विचार नहीं जिस पर इसमें बल न दिया हो, जिसे इसने उसके अत्यंत उच्च एवं अलंघनीय रूप में उपस्थित न किया हो, शिक्षा, आदेश, कथानक, कलात्मक कृति और रचनात्मक दृष्टांतों के द्वारा प्रस्थापित न किया हो। सत्य, सम्मान, राजभक्ति, विश्वासपात्रता, साहस, शुचिता, प्रेम, सहिष्णुता, आत्मत्याग, अहिंसा, क्षमा, करुणा, हितैषिता, दानशीलता, परोपकार इसके सामान्य विषय हैं, इसकी दृष्टि में ये यथार्थ मानव जीवन के वास्तविक उपादान हैं, मनुष्य के धर्म का सारतत्त्व हैं।

अपने महत् और उदात्त आचार-शास्त्र से युक्त बौद्ध धर्म, आत्मविजय के कठोर आदेश से समन्वित जैनधर्म, धर्म के सभी पक्षों से भव्य दृष्टांतों से विभूषित हिंदूधर्म नैतिक शिक्षा और आचरण में किसी भी धर्म या संप्रदाय से कम नहीं हैं, बल्कि सच पूछो तो इनका स्थान सब धर्मों से अधिक ऊँचा है और इनका प्रभाव भी सबसे अधिक सबल रहा है। प्राचीन समय में इन गुणों के अभ्यास के विषय में स्वदेशीय और विदेशीय प्रमाण प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

भारतीय विचारक के नेत्र की विशेषता यह है कि वह रूप के आर-पार देखता है, यहाँ तक कि शक्ति के भी आर-पार देखता है और सर्वत्र वस्तुओं में अंतर्निहित आत्मा की खोज करता है। जीवन में भारतीय संकल्प की विशेषता यह है कि जब तक उसे आत्मा का सत्य नहीं प्राप्त होता और वह उसमें निवास नहीं करने लग जाता तब तक उसे ऐसा लगता है कि वह कृतार्थ नहीं हुआ, उसे पूर्णता का संपर्क नहीं प्राप्त हुआ, उसे किसी मध्यवर्ती संतुष्टि में बने रहना उचित नहीं जँचता। जगत्, प्रकृति और सत्ता के विषय में भारतीय विचार भौतिक नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक है। आत्मा, अंतरात्मा और चेतना जड़ प्रकृति तथा निश्चेतन शक्ति से केवल महान् ही नहीं हैं अपितु वे इन निम्नतर वस्तुओं के आदि और मूल कारण भी हैं।

यदि कोई सोचता है कि हम केवल बौद्धिक सत्ता हैं, तो वह हिन्दू नहीं है। हिन्दूधर्म बौद्धिकता का गुणगान उन लोगों पर छोड़ देता है जिन्होंने भगवान् को कभी भी नहीं देखा है। वह भगवान् द्वारा केवल उनकी महानता और भव्यता के बारे में बोलने के लिए नियुक्त किया गया है और वह यह हजारों वर्षों से बोलता आया है। जब हमने पहली बार युरोपीय शिक्षा को ग्रहण किया था, तब हमने अपने-आपको विज्ञान की रोशनी में गलत रास्ते पर जाने की स्वीकृति दी। विज्ञान एक सीमित कमरे के अन्दर एक रोशनी है वह सूर्य नहीं जो कि पूरे संसार को प्रकाशित करता है। विज्ञान की कुल उपलब्धि है अपरा विद्या, पर उससे उच्चतर एक विद्या है, एक ज्यादा शक्तिशाली ज्ञान है।

जिस किसी ने एक बार भी अपने भीतर भगवान् के गौरव का अनुभव किया है वह फिर कभी विश्वास नहीं कर सकता कि बुद्धि ही सर्वोच्च है। एक उच्चतर वाणी है, एक अमोघ भागवत मंत्रणा है। यह हमारे हृदय में है, जहाँ भगवान् निवास करते हैं। भगवान् मस्तिष्क के द्वारा कार्य करते हैं लेकिन मस्तिष्क उनके हाथों के उपकरणों में से मात्र एक उपकरण है। मस्तिष्क जो भी योजना बनाता है, हृदय उसको पहले से जानता है और जो भी व्यक्ति मस्तिष्क से परे हृदय तक जा पाएगा, वह शाश्वत् की वाणी सुनेगा।

इस संस्कृति में धर्म और दर्शन इतने घनिष्ठ रूप में मिले हुए हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शन अधिकांश युरोपीय दर्शन के समान हवा में अनुमान और तर्क-वितर्क करने का कोई कोरा बौद्धिक व्यायाम नहीं है, न वह विचारों और शब्दों का जाल बुनने की कोई अति सूक्ष्म प्रक्रिया ही है; वह तो उन सबका सुव्यवस्थित बुद्धिमूलक सिद्धांत या उन सबको क्रमबद्ध करने वाला अंतर्ज्ञानात्मक बोध है जो भारतीय धर्म की आत्मा है, इसका विचार, क्रियाशील सत्य, सारभूत अनुभव और बल है।

भारतीय आध्यात्मिक दर्शन की अनुभव और कर्म में परिणति ही भारतीय धर्म है। एक विशाल, समृद्ध, सहस्रमुखी, अपरिमित रूप से नमनीय, फिर भी बहुत दृढ़तापूर्वक संरचित व्यवस्था है जिसे हिन्दुत्व कहा जाता है। उसके धार्मिक विचार और व्यवहार में यदि कुछ भी ऐसा है जो उसके आध्यात्मिक दर्शन के प्रतिकूल है तो वह या तो मात्र सामाजिक ढाँचा है या फिर रीति-रिवाजों का प्रक्षेपण अथवा प्राचीन आधारों और सहारों का अवशेष मात्र। या फिर यह विकार की अपवृद्धि और विकास है, फूहड़ मन में इसके सत्य और अर्थ की अधोगति, सब प्रकार के धार्मिक चिंतन और व्यवहार को लील देने वाले भ्रष्ट मिश्रणों का एक अंश।

जैसा कि प्रत्येक भारतीय जानता है, इस के पूजा के पात्र देवता एकमेव अनंत के शक्तिशाली नाम, दिव्य रूप, क्रियाशील व्यक्तित्व एवं जीवंत स्वरूप हैं। प्रत्येक देव परम त्रिमूर्ति (Trinity) का एक रूप है या उससे पैदा हुई सत्ता या उस पर आश्रित शक्ति है, प्रत्येक देवी विश्व-शक्ति, चित्शक्ति या परमा शक्ति का एक रूप है। परंतु तार्किक युरोपीय-मन के लिए एकेश्वरवाद, बहुदेववाद, विश्वेश्वरवाद ऐसे सिद्धांत हैं जो एक समन्वय-सूत्र में नहीं बँधते और परस्पर झगड़ते रहते हैं; एकत्व, बहुत्व, सर्वत्व सनातन अनंत के परस्पर भिन्न रूप नहीं हैं और न हो ही सकते हैं, बल्कि ये उसके सुसमन्वित रूप हैं।

हिंदू के लिए प्रतिमा अतिभौतिक सत्ता का एक भौतिक प्रतीक एवं आलंबन है; मनुष्य का देहबद्ध मन एवं इंद्रिय और वह अतिभौतिक बल, शक्ति या उपस्थिति जिसकी वह पूजा करता है और जिसके साथ वह संपर्क स्थापित करना चाहता है – इन दोनों के मिलन के लिए मूर्ति एक आधार का काम करती है। परंतु औसत युरोपवासी को अमूर्त्त सत्ताओं में बहुत ही कम आस्था होती है और यदि हो भी तो उन्हें वह एक अलग श्रेणी एवं एक अन्य संबंध रहित लोक में, सत्ता के एक पृथक् स्तर में रख देना चाहेगा। भौतिक और अतिभौतिक के बीच की ग्रंथि उसकी दृष्टि में एक निरर्थक सूक्ष्मता है जिसके लिए केवल कल्पनात्मक काव्य और रोमांस में ही जगह दी जा सकती है।

यूनानियों के पास ईसाइयों से अधिक प्रकाश था जिन्होंने उन्हें धर्मांतरित किया; उस समय यूनान में रहस्यमय ज्ञानवाद था और वे अज्ञेयवाद इत्यादि का विकास कर रहे थे। ईसाई प्रकाश की अपेक्षा अंधकार ले आए।

आक्रामक धर्मों के साथ सदैव यही होता आया है; वे पृथ्वी को रौंद डालना चाहते हैं। दूसरी तरफ हिंदुत्व सहनशील है और इसी में उसके लिए खतरा है।

मैं एक आक्रामक और विस्तारशील हिंदुत्व में विश्वास करता हूँ, संकीर्णता के साथ रक्षात्मक और आत्मसंकोचशील हिंदुत्व में नहीं।

जिस आध्यात्मिक पूर्णता का मार्ग मनुष्य के सामने खुला पड़ा है वह जीवन और प्रकृति में आत्मा के सुदीर्घ, धैर्यपूर्ण और सहस्त्रों वर्ष चलने वाले विकास का सर्वोच्च शिखर है। इस लोक में होने वाली क्रमिक आध्यात्मिक उन्नति एवं विकास में इस प्रकार का विश्वास होना ही निःसंदेह वह गूढ़ रहस्य है जिसके कारण पुनर्जन्म के सत्य को भारत में प्रायः सार्वजनीन मान्यता प्राप्त हुई है। विश्व में अवस्थित निगूढ़ आत्मा, जो अचेतनों में भी चेतन है, **चेतनः अचेतनेषु**, निम्न योनियों में सहस्त्रों बार जन्म लेकर ही मानवयोनि तक पहुँचा है : सैंकड़ों या हजारों, यहाँ तक कि शायद लाखों मानव जीवनों के द्वारा ही मनुष्य अपनी दिव्य अध्यात्म-सत्ता में विकसित हो सकता है।

यही विश्वास जीवन-विषयक भारतीय विचार की धुरी है कि आत्मा का क्रमशः विकास होता है और अंत में वह एक परम पूर्णता या दिव्य लोकोत्तर स्थिति को प्राप्त होता है तथा मानव जीवन इसे प्राप्त करने का पहला प्रत्यक्ष साधन एवं बारंबार मिलने वाला अवसर है। यह बात हमारे जीवन को एक कुंडलाकार या चक्राकार गति के साथ होने वाले आरोहण का रूप दे देती है; और इस आरोहण के सुदीर्घ काल को मानव ज्ञान, मानव कर्म, मानव अनुभव से परिपूरित करना होता है। इसके भीतर सभी पार्थिव उद्देश्यों, कर्मों और अभीप्साओं के लिए अवकाश है; इस आरोहण में सब प्रकार के मानवीय चरित्र और स्वभाव के लिए स्थान है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता का प्रधान मूल्य उस शक्ति में निहित था जिसके साथ उसने यह कार्य संपन्न किया, उस गंभीर प्रज्ञा और उच्च तथा सूक्ष्म कौशल में निहित था जिसके साथ इसने समाज का आधार स्थापित किया तथा वैयक्तिक जीवन को व्यवस्था के सूत्र में बाँधा और मानव प्रकृति की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित एवं परिचालित किया और फिर अंत में उन सबको अपने सर्वप्रधान विचार की चरितार्थता की ओर फेर दिया। जिस मन को वह शिक्षित कर रही थी उसे जहाँ अपने तात्कालिक लक्ष्यों से पराङ्मुख नहीं किया गया, वहीं आध्यात्मिक सिद्धि के लिए एक अनुशासन, तथा अनंत की प्राप्ति के एक पथ के रूप में जीवन की उपयोगिता को उसकी दृष्टि से कभी ओझल भी नहीं होने दिया गया।

एक अधिक व्यापक आध्यात्मिक संस्कृति को यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मा केवल उच्चतम और अंतरतम वस्तु ही नहीं है, बल्कि सब कुछ आत्मा की ही अभिव्यक्ति और सृष्टि है। उसकी दृष्टि अधिक विस्तृत होनी चाहिये, उसकी व्यवहार्यता का क्षेत्र अधिक सर्व-संग्राहक होना चाहिये और यहाँ तक कि उसके पुरुषार्थ का लक्ष्य अधिक अभीप्साशील और उच्चाकांक्षी होना चाहिये। उसका लक्ष्य कुछ चुने हुए लोगों को अगम ऊँचाइयों तक उठा ले जाना ही नहीं होना चाहिये अपितु सब मनुष्यों को, समस्त जीवन और संपूर्ण मानव सत्ता को ऊपर की ओर खींच ले जाना, जीवन को आध्यात्मिक बनाना और अंत में मानव प्रकृति को दिव्य बनाना होना चाहिये।

भारतीय वैराग्य दुःख का एक शोकप्रद धर्मोपदेश अथवा विकृत तपस्या में शरीर का कष्टदायक दमन नहीं है, बल्कि एक उच्चतर आनंद और आत्मा के संपूर्ण आधिपत्य की ओर किया गया एक उत्कृष्ट प्रयास है।... उसके लिए चुने गए अपेक्षाकृत कुछ लोगों द्वारा ही व्यवहृत न होकर, किंतु अपने चरम रूप में सभी को उपदिष्ट होकर और हजारों अनुपयुक्त लोगों द्वारा अंगीकार किये जाने पर, उसके मूल्यों में गिरावट आ सकती है, नकलों की बहुतायत हो सकती है, और समुदाय की जीवन-शक्ति अपना लचीलापन तथा अपनी अग्रगामी गति खो सकती है।

यह दावा करना व्यर्थ होगा कि ऐसे दोष और भद्दे परिणाम भारत में विद्यमान नहीं रहे हैं। मानव अस्तित्व की समस्या के अंतिम हल के रूप में मैं वैराग्य के आदर्श को स्वीकार भी नहीं करता; किंतु उसकी अतिशयोक्तियों के पीछे भी एक महान् भावना है, बनिस्पत प्राणिक अतिशयोक्तियों के, जो कि पाश्चात्य संस्कृति के विपरीत दोष हैं।

पश्चिम की मनोवृत्ति बहुत समय से सारी मानवता के लिए एक ही धर्म के आक्रामक और बिल्कुल तर्क विरुद्ध विचार को पोषित करती आई है, एक ऐसा धर्म जो अपनी संकीर्णता, धर्मसिद्धांतों की एक श्रेणी, एक उपासना पद्धति, अनुष्ठानों की एक प्रणाली, विधि-निषेधों का एक विन्यास, एक धार्मिक अध्यादेश के ही बल पर सार्वभौम हो। वह संकीर्ण असंगति एक सच्चे धर्म के रूप में इठलाती फिरती है, जिसे यहाँ लोगों द्वारा उत्पीड़ित किये जाने के डर से और दूसरे लोकों में ईश्वर द्वारा आध्यात्मिक अस्वीकृति अथवा भयंकर अनंत दंड दिये जाने के डर से सभी को स्वीकार करना चाहिए।

मानव तर्कहीनता का यह विकृत सृजन, इतनी अधिक असहिष्णुता, क्रूरता, रूढ़िवादिता और आक्रामक कट्टरपंथी का यह जनक भारत के स्वतंत्र और लचीले मानस को कभी भी दृढ़तापूर्वक पकड़ नहीं पाया है। आदमियों में हर जगह एक-सी मानवीय कमजोरियाँ होती हैं, और विशेष रूप से धार्मिक रीति-रिवाजों के मामले में भारत में भी असहिष्णुता और संकीर्णता रही है और है।... परंतु इन चीजों का उतना अनुपात नहीं हो पाया जितना युरोप में हो गया था।

भारत में सदैव ही एक उच्चतर और अधिक पवित्र आध्यात्मिक बुद्धि की रक्षाकारी सूझ-बूझ क्रियाशील रही है जो अपना प्रभाव सामान्य जनता की मनोवृत्ति पर डालती रही है। भारतीय धर्म ने हमेशा यह महसूस किया कि चूँकि मस्तिष्क, प्रवृत्तियाँ और लोगों के बौद्धिक संबंध अपनी विविधता में असीम हैं, इसलिए व्यक्ति को परमात्मा के प्रति अपने भाव में विचार और पूजा की पूरी स्वतंत्रता दी जानी चाहिए।

धर्म उतना ही अधिक उपयोगी है और उसी प्रकार से, जैसे संस्कृति के अन्य रूप हैं उदाहरणार्थ कला, विज्ञान, नीतिशास्त्र आदि। ये सभी मानव के विकास में सहायक होते हैं; वे ऐसी सामग्री तैयार कर देते हैं जो उसके उच्चतर आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध कर देगी।... किंतु जैसे संस्कृति के अन्य विभागों – सौंदर्यशास्त्र, नैतिकताओं, विज्ञान – का दुरुपयोग किया जा सकता है, वैसे ही धर्म का भी दुरुपयोग किया जा सकता है और वास्तव में प्रायः किया जाता है। और जैसा कहा गया है, जब सबसे उत्कृष्ट वस्तु का ह्रास होता है तब उसकी भ्रष्टता निकृष्टतम हो जाती है – यही हाल धर्म का है; जब उसकी महान संभावनाओं का दुरुपयोग किया जाता है तो उससे निकृष्टतम बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं।

भारतीय शास्त्रों और भारतीय परंपरा में, महाभारत में तथा अन्यत्र, जीवन से संन्यास की आध्यात्मिकता और कर्म के आध्यात्मिक जीवन, दोनों के लिए स्थान दिये गए हैं। कोई यह नहीं कह सकता कि केवल एक ही भारतीय परंपरा है और जीवन तथा सब प्रकार के कार्यों, 'सर्वकर्माणि' की स्वीकृति अभारतीय, युरोपीय या पाश्चात्य और अनाध्यात्मिक है।

जगत्, प्रकृति और सत्ता के विषय में भारतीय विचार भौतिक नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक है। आत्मा, अंतरात्मा और चेतना जड़ प्रकृति तथा निश्चेतन शक्ति से केवल महान् ही नहीं हैं अपितु वे इन निम्नस्तर वस्तुओं के आदि और मूल कारण भी हैं। समस्त बल-सामर्थ्य एक निगूढ़ आत्मा की शक्ति या साधन है। जगत् को धारण करने वाली शक्ति एक सचेतन संकल्प-शक्ति है, और प्रकृति उसका कार्यवाहक शक्ति-रूप यंत्र है। जड़तत्त्व अपने अंदर छुपी हुई चेतना का शरीर या क्षेत्र है, और यह जड़ जगत् आत्मा का बाह्य रूप और क्रिया-व्यापार है।

स्वयं मनुष्य कोई ऐसा प्राण और मन नहीं है जो जड़तत्त्व से उत्पन्न हुआ हो और सदा के लिए भौतिक प्रकृति के अधीन हो, बल्कि वह एक आत्मा है जो प्राण और शरीर का उपयोग करता है। जगद्विषयक इस विचार में जो एक सज्ञान श्रद्धा है, इसे जीवन में कार्यान्वित करने का जो एक प्रयत्न है, इस उच्च प्रयास की जो कला और पद्धति है और अंत में प्राण और जड़तत्त्व के साथ बँधे हुए इस मन के घेरे से बाहर निकलकर महत्तर अध्यात्म-चेतना में प्रविष्ट होने की जो अभीप्सा है यही भारतीय संस्कृति का अंतरतम मर्म है। यही उस भारतीय आध्यात्मिकता का स्वरूप है जिसकी इतनी अधिक चर्चा सुनने में आती है।

भारतीय विचार के अनुसार मनुष्य एक अध्यात्म सत्ता है जो शक्ति के कार्यों में छुपी हुई है, आत्म-उपलब्धि की ओर बढ़ रही है और देवत्व को प्राप्त करने में समर्थ है। वह एक अंतरात्मा है जो प्रकृति के भीतर से होती हुई सचेतन आत्म-स्थिति की ओर विकसित हो रही है; वह एक दिव्य और एक शाश्वत सत्ता है; वह भगवत्-सिंधु में नित्य लहराने वाली एक तरंग है; परम अग्नि की कभी न बुझने वाली चिनगारी है। यहाँ तक कि, अपनी सर्वोच्च सत्ता में वह उस अनिर्वचनीय परात्पर सत्ता से अभिन्न है जिससे वह प्रादुर्भूत हुआ था और उन देवताओं से भी महान् है जिनकी वह पूजा करता है।

वेदान्त की सुदृढ़ और मूलभूत धारणा है कि, अगर हम उसे बस खोज सकें, तो कहीं उस तत्त्व का अस्तित्व है जो कि बौद्धिक अनुसंधान के लिए तो नहीं लेकिन अनुभव या आत्म-उद्‌घाटन के लिए उपलब्ध है। वह एक अद्वैत सत्य है जो सर्वग्राही और सर्वव्यापी है जिसके आलोक में समग्र अस्तित्व, अपने स्वभाव और साध्य दोनों में, उद्‌घाटित और व्याख्यायित हो जाता है। अपने तमाम पदार्थों की बहुलता और शक्तियों की विविधता के बावजूद यह वैश्विक सत्ता अपने सारतत्व और मूल में एक है। और यह सारी वैश्व सत्ता एक अज्ञात परिमाण या ब्रह्म में समायी जा सकती है क्योंकि वही इसका उद्‌गम और आधार है। यह अज्ञात मात्रा ब्रह्म कहलाती है।

सारे प्राचीन राष्ट्र नष्ट हो गए क्योंकि अपनी बुद्धि के गर्व में उन्होंने अपने धर्म को त्याग दिया। भारत और चीन अभी तक जीवित हैं। दृढ़तापूर्वक रौंदा गया और पराजित भारत किस शक्ति के सहारे शाश्वत रूप से जीवित बना रह सका, हर बार प्रतिरोध कर सका, हर बार अपने तात्कालिक विजेता को अन्ततोगत्वा अपने विराट् पंजे के नीचे पददलित कर सका, हर बार अपने सशक्त मस्तक को सितारों की ओर फिर से उठा सका। यह सब इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि उसने धर्म को कभी नहीं छोड़ा और कभी भी आत्मभाव में अपनी श्रद्धा को नहीं खोया।

इसीलिए श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा सर्वदा सही उतरती है; इसीलिए आद्याशक्ति, प्रचण्ड चण्डी, जब भी लोग उसकी तरफ मुड़ते हैं, हर बार नीचे उतरती हैं और असुर को रौंद कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालती हैं। समय बदला है और आज पूरब के असुरों की जगह एक नई प्रकार की बाहरी शक्ति भारत पर राज कर रही है। लेकिन भारत के लिए यह चिन्ता की बात होगी अगर वह स्वयं को अपने सनातन धर्म से अलग कर लेता है। यदि ऐसा हुआ तो प्राचीन राष्ट्रों का भाग्य उस पर हावी हो जाएगा। उस स्थिति में उसका नाम राष्ट्रों के नामों की सूची से हटा दिया जाएगा और उसके लोग पृथ्वी पर मात्र एक स्मृति और किंवदन्ती भर रह जाएँगे। उसे अपनी सत्ता और आत्मशक्ति के प्रति सच्चा बने रहना चाहिए। आत्मा की शाश्वत शक्ति फिर से उसे शक्तिशाली बनाएगी और ऊपर उठाएगी।

धर्म का गहनतम हृदय, उसका अत्यंत अंतरंग सार – उसके सिद्धांत, उपासना, अनुष्ठान और प्रतीक आदि से परे – भगवान् की खोज और भगवान् की प्राप्ति है। उसकी अभीप्सा उस असीम को, उस पूर्ण सत्ता को, उस एकमेव को, उस भगवान् को पाने के लिए है जो यह सब कुछ है, फिर भी कोई अमूर्त विचार नहीं, वरन् एक सत्ता है।

इसका कार्य मनुष्य और भगवान् के बीच के सच्चे और घनिष्ठ संबंधों को जीवन में चरितार्थ करना है। ये संबंध हैं एकत्व के संबंध, विभेद के संबंध, प्रबुद्ध ज्ञान के संबंध, एक आह्लादयुक्त प्रेम और आनंदपूर्ण समर्पण और सेवाभाव, सत्ता के प्रत्येक भाग को उसकी साधारण स्थिति से निकालकर मनुष्य का भगवान् की ओर आरोहण और भगवान् का मनुष्य के अंदर अवरोहण।

इन सबका तर्क-बुद्धि के क्षेत्र और साधारण कार्यों के साथ कोई संबंध नहीं; इसका उद्देश्य, इसका क्षेत्र और इसकी प्रक्रिया अतिबौद्धिक है। भगवान् का ज्ञान हमें तर्क-बुद्धि के द्वारा उसके अस्तित्व के पक्ष में या विरोध में दी गई निर्बल युक्तियों के तौलने से नहीं प्राप्त होता; यह केवल आत्म-अतिक्रमण और पूर्ण आत्मोत्सर्ग, अभीप्सा एवं अनुभूति द्वारा ही मिल सकता है। न ही यह अनुभव बौद्धिक वैज्ञानिक परीक्षण अथवा बौद्धिक दार्शनिक चिंतन जैसी किसी चीज से प्राप्त होता है।

धार्मिक अनुशासन के उन भागों में भी, जो वैज्ञानिक परीक्षण से अत्यधिक मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं, वस्तुओं के सत्य को निरीक्षण करने की जो विधि काम में लायी जाती है वह तर्क-बुद्धि और उसके भीरू क्षेत्र को लाँघ जाती है। धार्मिक ज्ञान के उन अंगों में भी, जो बौद्धिक क्रियाओं से अत्यंत मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं, ज्ञान प्रदान करने वाली शक्तियाँ कल्पना, तर्क और बौद्धिक निर्णय नहीं हैं, वरन् साक्षात् दर्शन, प्रेरणा, अंतर्ज्ञान और आंतरिक विवेक हैं, ये हमारे पास अतिबौद्धिक प्रकाश के स्तर से आती हैं।

भगवान् का प्रेम एक ऐसी असीम और पूर्ण अनुभूति है जो किसी भी बौद्धिक सीमा को स्वीकार नहीं करती, न ही वह बौद्धिक पूजा और भक्ति की भाषा प्रयुक्त करती है। भगवान् के अंदर प्राप्त होने वाले हर्ष का अर्थ वह शांति एवं आनंद है जो समस्त समझ से परे की वस्तु है।

भगवान् के प्रति समर्पण समस्त सत्ता का एक अतिबौद्धिक प्रकाश, संकल्प, शक्ति और प्रेम के प्रति समर्पण है। उसकी सेवा जीवन के साथ किये जाने वाले उन समझौतों को कोई महत्त्व नहीं देती जिनका मनुष्य की व्यावहारिक तर्कबुद्धि लौकिक जीवन के साधारण व्यवहार में अपनी श्रेष्ठतम प्रणाली के रूप में प्रयोग करती है। जहाँ कहीं धर्म वास्तविक रूप में अपने को पा लेता है, जहाँ कहीं वह अपनी सच्ची भावना के प्रति अपने-आपको खोल देता है वहीं उसकी प्रणाली पूर्ण तथा उसके फल अवर्णनीय होते हैं। हालाँकि ऐसे कई प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान हैं जो गतिरोधक, अपूर्ण, अर्धसत्य तथा अपने विषय में केवल अर्धनिश्चित हैं और वहाँ तर्क-बुद्धि की थोड़ी सुनवायी होती है।

भारत में धर्म ने अपने-आपको किसी एक मत या सिद्धांत तक सीमित नहीं रखा। उसने विभिन्न प्रकार के निरूपणों को विपुल संख्या में प्रवेश ही नहीं दिया बल्कि सफलता के साथ अपने अंदर उन सभी तत्त्वों को समा लिया जो धर्म के विकास की प्रक्रिया में उग आये थे और उसने किसी पर पाबंदी लगाने या किसी को काट फेंकने से इंकार किया। उसने गुह्यवाद को उसकी चरम सीमा तक विकसित किया, सब प्रकार के आध्यात्मिक दर्शनों को स्वीकार किया, आध्यात्मिक उपलब्धि, आध्यात्मिक अनुभूति, आध्यात्मिक आत्मनियंत्रण की हर संभव रेखा का उसके गंभीरतम, उच्चतम और विशालतम परिणाम तक अनुसरण किया।

उसकी पद्धति क्रमविकास की प्रकृति की ही पद्धति रही है, उसने सभी विकासों, आधार के विभिन्न अंगों के साथ संपर्क और उन पर क्रिया करने के आत्मा के सभी साधनों को, मनुष्य और परम पुरुष या भगवान् के बीच सायुज्य के सभी मार्गों को स्वीकृति दी है। लक्ष्य की ओर बढ़ने के हर संभव मार्ग का अनुसरण और चरम सीमा तक में उसका परीक्षण करने की स्वीकृति दी है।

मनुष्य के अंदर आध्यात्मिक विकास के सभी स्तर हैं और हर एक को अपनी आत्मा तक पहुँचने के लिए छूट देनी होगी या साधन जुटाने होंगे, ऐसे मार्ग के जो उसकी क्षमता या अधिकार के अनुकूल हों। यहाँ तक कि जो आदिम रूप बचे हुए थे उन पर भी प्रतिबंध नहीं लगाया गया बल्कि उन्हें अधिक गहरे अर्थ तक ऊपर उठाया गया व उन पर सूक्ष्मतम चरम आकाश में उच्चतम आध्यात्मिक शिखरों की ओर बढ़ने के लिए दबाव बना रहा। यहाँ तक कि धर्म के ऐकांतिक मतवादी रूप तक का बहिष्कार नहीं किया गया बशर्ते कि इसका सामान्य लक्ष्य और सिद्धांत के साथ मेल स्पष्ट हो, तब उसे सामान्य व्यवस्था की अनंत विविधता में प्रवेश दिया जाता था।

भारत का केंद्रीय विचार यह है कि एक सनातन सत्ता है, एक परम आत्मा है जो यहाँ जड़ में आच्छादित एवं उलझा हुआ है तथा इसके अंदर अंतर्यामी रूप से सदा विद्यमान है। इस भौतिक स्तर पर वह व्यक्ति के पुनर्जन्म द्वारा सत्ता की स्तर-परंपरा में ऊपर की ओर विकसित हो रहा है। इस प्रकार विकसित होते-होते वह मनोमय मनुष्य के अंदर विचारों के जगत् में तथा सचेतन नैतिकता अर्थात् धर्म के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। यह सफलता, अचेतन प्रकृति पर यह विजय उसकी दिशाओं को विकसित करती है, उसके क्षेत्र को विस्तृत करती तथा उसके स्तरों को उन्नत करती है, और यह विकास तब तक चलता रहता है जब तक कि मन-रूपी साधन के सात्त्विक या आध्यात्मिक अंश की बढ़ती हुई अभिव्यक्ति मनुष्य के अंदर के वैयक्तिक मनोमय पुरुष को मन से परे की शुद्ध अध्यात्म-चेतना के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने के योग्य नहीं बना देती।

भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था इसी विचार पर आधारित है; उसका दर्शन इसी को सूत्रबद्ध करता है; उसका धर्म आध्यात्मिक चेतना तथा उसके फलों की प्राप्ति के लिए अभीप्सा स्वरूप है; उसकी कला तथा उसके साहित्य में यही ऊर्ध्वमुखी दृष्टि पायी जाती है; उसका संपूर्ण धर्म या जीवन-विधान इसी पर प्रतिष्ठित है। प्रगति को वह अवश्य स्वीकार करता है, किंतु इस आध्यात्मिक प्रगति को ही, न कि नित-अधिकाधिक समृद्ध एवं कार्यदक्ष बनती जाने वाली जड़वादी सभ्यता की बाह्य विकास की प्रक्रिया को।

इस उदात्त विचार पर जीवन की प्रतिष्ठा तथा आध्यात्मिक एवं शाश्वत सत्ता की ओर उसकी उत्कण्ठा ही उसकी सभ्यता का विशिष्ट मूल्य हैं। और, किसी भी प्रकार की मानवीय त्रुटियों के होते हुए भी, इस उच्चतम आदर्श के प्रति उसकी निष्ठा ने ही उसके निवासियों को मानव-जगत् में एक विलक्षण जाति बना दिया है।

हिन्दू धर्म का मूलभूत ढाँचा एवं कार्य-प्रणाली

यदि हमें भारतीय संस्कृति के संबंध में सही दृष्टि प्राप्त करनी है तो यह आवश्यक है कि केन्द्रीय, जीवन्त और नियंत्रक तत्त्वों पर आधारित रहा जाए तथा घटनाओं और ब्यौरों से पैदा होने वाले भ्रम से बचा जाए। इस संस्कृति के जो आलोचक इस सावधानी को नहीं अपनाते हैं वे अपने आपको एक ऐसी भूल-भुलैया में पाते हैं जिसमें से निकलने का कोई उपाय नहीं है और इस प्रकार वे झूठे और आंशिक निष्कर्षों के बीच भटकते रहते हैं और मामले की वास्तविक सच्चाई से पूरी तरह चूक जाते हैं। इसलिए हम यहाँ आवश्यक सावधानियाँ बरतेंगे और अपनी दृष्टि को भारतीय संस्कृति के केन्द्रीय भाव, उसके जीवन्त रूपों और गहरे प्रयोजनों पर केन्द्रित करेंगे।

१. केन्द्रीय उद्देश्य

भारतीय संस्कृति का मूलतत्त्व एवं सारभूत भाव असाधारण रूप से उच्च, महत्त्वाकांक्षापूर्ण और श्रेष्ठ था, सच पूछो तो वह निस्संदेह एक ऐसा उच्चतम तत्त्व और भाव था जिसकी मानव आत्मा कल्पना कर सकती है। क्योंकि जीवन के विषय में उससे महान् विचार और क्या हो सकता है जो इसे मानवात्मा के अत्यंत विशाल रहस्य तथा उसकी उच्च संभावनाओं तक होने वाले उसके एक विकास का रूप दे देता है, – उससे महान् संस्कृति और क्या हो सकती है जो जीवन को काल में कालातीत की, व्यक्ति में विराट् की, सीमित में अनन्त की एवं मनुष्य में भगवान् की क्रिया समझती है, अथवा जो यह मानती है कि मनुष्य सनातन और अनंत को केवल जान ही नहीं सकता बल्कि उसकी शक्ति में निवास भी कर सकता है और आत्मज्ञान के द्वारा अपने-आपको विश्वमय, आध्यात्मिक और दिव्य भी बना सकता है? मनुष्य के जीवन के लिए इससे बढ़कर महान् लक्ष्य और क्या हो सकता है कि वह आंतर और बाह्य अनुभव के द्वारा अपना तब तक विकास साधन करे जब तक कि वह परमेश्वर में निवास करने, अपनी अध्यात्मसत्ता को अनुभव करने, अपनी उच्चतम सत्ता के ज्ञान, संकल्प और आनंद में दिव्य बनने में समर्थ न हो जाए? वास्तव में भारतीय संस्कृति के प्रयास का संपूर्ण आशय यही है।

यह कहना आसान है कि ये विचार मिथ्या, काल्पनिक और अव्यवहार्य हैं, वास्तव में न तो कोई आत्मा है न सनातन सत्ता और न कोई दिव्य वस्तु ही, और यदि मनुष्य धर्म और दर्शनशास्त्र के साथ खेल न कर अपने क्षणिक एवं तुच्छ जीवन और शरीर का यथासंभव अच्छे-से-अच्छा उपयोग करें तो यह उसके लिए कहीं अधिक अच्छा होगा। यह एक ऐसा निषेध है जो प्राणिक और भौतिक मन के लिए प्रायः स्वभाविक ही है, पर यह इस धारणा पर आश्रित है कि मनुष्य केवल वही बन सकता है जो कि वह इस क्षण है और उसमें ऐसी कोई महत्तर वस्तु नहीं है जिसे विकसित करना उसका कर्त्तव्य है; ऐसे निषेध का कोई स्थाई

मूल्य नहीं होता है। किसी महान् संस्कृति का संपूर्ण लक्ष्य यह होता है कि यह मनुष्य को किसी ऐसी स्थिति तक उठा ले जाए जो वह आरंभ में नहीं होता, उसे ज्ञान की ओर ले चले यद्यपि वह अथाह अज्ञान से ही अपनी यात्रा शुरू करता है, उसे उसके विवेक के द्वारा जीना सिखाए, यद्यपि आज वह अशुभ और वैषम्य से ही भरा हुआ है, सुन्दरता और समस्वरता के विधान के द्वारा जीना सिखाए, यद्यपि उसका यथार्थ जीवन कुरूपता और कलहरत बर्बरताओं का घृणाजनक घोटाला ही है, उसे उसकी आत्मा के किसी उच्च विधान के द्वारा जीना सिखाए, यद्यपि इस समय वह अहंभावपूर्ण भौतिक एवं अनाध्यात्मिक है और अपनी स्थूल सत्ता की आवश्यकताओं और कामनाओं में ही ग्रस्त है। यदि किसी सभ्यता का इनमें से कोई भी लक्ष्य न हो तो कदाचित् यह कहा ही नहीं जा सकता कि उसकी कोई संस्कृति है और निश्चय ही यह तो किसी भी अर्थ में नहीं कहा जा सकता कि उसकी एक महान् और श्रेष्ठ संस्कृति है। परंतु इनमें से अंतिम लक्ष्य, अपने उस रूप में जिसकी कल्पना प्राचीन भारत ने की थी, सब लक्ष्यों से ऊँचा है क्योंकि वह अन्य सभी को अपने अंदर लिए हुए है और साथ ही उन सबसे श्रेष्ठ भी है। इस प्रयत्न को संपन्न करना जाति के जीवन को श्रेष्ठ बनाना है, इसमें असफल होना इसके लिए कभी बिल्कुल ही प्रयत्न न करने से कहीं अच्छा है; इसमें थोड़ी-सी भी सफलता प्राप्त करना मनुष्य की भावी संभावनाओं के पूरा होने में महान् सहायता प्रदान करना है।

२. एक संस्कृति की पद्धति

एक संस्कृति का आधारभूत सिद्धान्त या उद्देश्य एक चीज है परन्तु उसकी पद्धति एक भिन्न ही चीज है। प्रणाली, स्वरूपतः ही, मूलभाव को क्रियान्वित करने वाली और साथ ही सीमित करने वाली होती है और फिर भी हमारे पास जीवन की एक विज्ञान एवं कला अर्थात् जीवन-यापन की एक प्रणाली अवश्य होनी चाहिये। जरूरत केवल इस बात की है कि जो भी रूप-रेखाएँ निर्धारित की जाएँ वे व्यापक और उदात्त हों, विकसित होने की क्षमता रखती हों जिससे कि मूल भावना अपने-आपको जीवन में अधिकाधिक प्रकट कर सके, अपनी दृढ़ता के होते हुए भी नमनशील हो ताकि वह नई चीजों को अपने अंदर आत्मसात् और समन्वित कर सके तथा अपनी एकता खोए बिना अपनी विविधता और समृद्धता को विस्तारित कर सके। भारतीय संस्कृति की प्रणाली अपने सिद्धांत रूप में और एक विशेष सीमा तथा विशेष समय तक अपने क्रियात्मक रूप में भी यह सब कुछ थी।

एक संस्कृति के मूल्यांकन के लिए... हमें संस्कृति के मूलभाव और मूलतत्त्व को ही नहीं, इसकी प्रणाली में निहित इसके उद्देश्य के आदर्श विचार और क्षेत्र को ही नहीं बल्कि जीवन के मूल्यों में इसके यथार्थ क्रिया-व्यापार और प्रभाव को भी देखना होगा। यहाँ हमें इसकी भारी सीमाओं और भारी त्रुटियों को स्वीकार करना होगा। ऐसी कोई संस्कृति नहीं, कोई सभ्यता नहीं, भले वह प्राचीन हो या आधुनिक, जो अपनी प्रणाली में मनुष्य की पूर्णता

की माँग के लिए पूर्ण रूप से संतोषजनक रही हो; ऐसी एक भी संस्कृति व सभ्यता नहीं जिसकी क्रिया-प्रक्रिया अत्यधिक सीमाओं और त्रुटियों के द्वारा कुंठित न हो गई हो और जिस संस्कृति का लक्ष्य जितना अधिक महान् होगा, जिस सभ्यता का आकार जितना अधिक विशाल होगा, उसमें ये दोष दृष्टि को उतना ही अधिक अभिभूत करने वाले हो सकते हैं।

जैसा कि हम आगामी पृष्ठों में देखेंगे, भारतीय संस्कृति अपनी कार्यप्रणाली में तथा जाति के मानस और जीवन पर अपने आदर्शों और उद्देश्यों की छाप छोड़ने में अत्यंत प्रभावशाली रही है। इस प्रक्रिया के माध्यम से क्रमशः जो धार्मिक संस्कृति विकसित हुई, उसको जो नाम दिया गया है वह है : सनातन धर्म अथवा हिन्दू धर्म। भारतीय संस्कृति को उसके सर्वोत्तम रूप में देखने और समझने के लिए इन तथ्यों का गहन परीक्षण किया जाना चाहिए कि भूतकाल में भारतीय धर्म ने जीवन के प्रति कैसा व्यवहार किया तथा किस प्रकार से धार्मिक विकास की व्यवस्था को जीवन की सामान्य संस्कृति के साथ जोड़ा है।

३. भूतकाल में भारतीय धर्म का जीवन के साथ व्यवहार

भूतकाल में जीवन के साथ अपने व्यवहार में भारतीय धर्म ने सतत् ही दो तरह के बोध रखे हैं जो कि एक महान् व्यावहारिक ज्ञान और उत्तम आध्यात्मिक कुशलता को दर्शाते हैं। ***सर्वप्रथम, उसने देखा*** कि सभी मनुष्य या संपूर्ण मानव-समाज आत्मा को एकाएक, आसानी से और तुरन्त ही नहीं प्राप्त कर सकते; आम तौर से या कम-से कम पहले-पहल यह प्राप्ति एक क्रमिक संवर्धन, शिक्षण एवं विकास के द्वारा ही साधित हो सकती है। प्राकृत जीवन को विस्तारित करना होगा और इसके साथ ही उसके सभी उद्देश्यों को उन्नत करना होगा, उच्चतर बौद्धिक, आत्मिक और नैतिक शक्तियों को उसे (जीवन को) अधिकाधिक अपने अधिकार में लाना होगा और इस प्रकार उसे तैयार करके एक उच्चतर आध्यात्मिक विधान की ओर ले जाना होगा। ***दूसरा इसने यह देखा कि...*** यदि इसके महत्तर लक्ष्य को सफल होना हो तथा इसकी संस्कृति के स्वरूप को अलंघ्य बनाना हो तो इसमें सर्वत्र तथा प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक उद्देश्य पर किसी-न-किसी प्रकार का आग्रह रहना ही चाहिये। और जनसाधारण के लिए इसका अर्थ है सदैव किसी-न-किसी प्रकार का धार्मिक प्रभाव। इस प्रकार व्यापक रूप से बल देना आवश्यक ही था ताकि आरंभ से ही सार्वभौम आंतरिक सत्य की कोई शक्ति, हमारी सत्ता के वास्तविक सत्य से निकलने वाली कोई किरण मनुष्य के प्राकृत जीवन पर अपनी ज्योति या, कम-से-कम, अपना गोचर प्रभाव – सूक्ष्म ही सही – डाल सके। मनुष्य-जीवन को एक प्रकार से नैसर्गिक रूप में, पर साथ ही बुद्धिमत्ता पूर्ण देखरेख और कौशल के द्वारा, अपने गंभीरतर आध्यात्मिक अर्थ में फूलने-फलने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए।

भारतीय धार्मिक संस्कृति – हिन्दू धर्म – ने हमेशा ही दो समन्वित, एक दूसरे को

प्रोत्साहित करने वाली सम्मिश्रित अवस्थाओं द्वारा कार्य किया है और ये अनुभूतियाँ उसके आधार व मार्गदर्शक सिद्धान्त रहे हैं। प्रथम, इसने समाज में व्यक्ति के जीवन को जीवन-क्रमों की एक स्वाभाविक शृंखला के द्वारा ऊपर की ओर ले जाने तथा विस्तृत करने का प्रयास किया है जिससे कि अंत में वह आध्यात्मिक स्तरों के लिए तैयार हो जाए। परंतु साथ ही इसने उस उच्चतम लक्ष्य को प्रत्येक अवस्था में बुद्धि के सम्मुख रखने और मनुष्य के आंतर तथा बाह्य जीवन की प्रत्येक घटना और क्रिया पर उसका प्रभाव डालने की भी चेष्टा की है।

(क) प्रथम बोध - तिहरा चतुष्टय

इस बोध की कार्य प्रणाली के अन्तर्गत भारतीय धार्मिक संस्कृति अन्य उच्चतम प्राचीन मानव संस्कृतियों के अधिक समीप आई, परन्तु अपने ही तरीके व अपनी ही अभिप्रेरणा से। इस पद्धति का ढाँचा एक तिहरे चतुष्टय से बना था। इसका पहला चक्र जीवन के चतुर्विध उद्देश्य – काम, अर्थ, धर्म एवं मोक्ष के क्रम-स्थापन एवं समन्वय का था। इसका दूसरा चक्र था चतुर्विध सामाजिक श्रेणी – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र – जो कि सावधानीपूर्वक श्रेणीबद्ध की गई थी और जो निश्चित आर्थिक कार्यक्षेत्र और उसके गहरे सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक महत्त्व से सज्जित थी। इसका तीसरा, सबसे अधिक मूलभूत चक्र था चतुर्विध शृंखला एवं जीवन की क्रमिक अवस्थाओं का अनुक्रमण, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी व संन्यासी। यह ढाँचा, जीवन प्रशिक्षण की ये व्यापक और उदात्त प्रणालियाँ इस सभ्यता के परवर्ती वैदिक एवं वीरत्वपूर्ण युग में अपनी शुद्ध अवस्था में, कठोरता और सुविधा के अपने महान् स्वाभाविक संतुलन के साथ और अपने सुंदर-सफल रूप में बराबर जीवित रहीं : इसके बाद ये धीमे-धीमे ढहने लगीं अथवा अपनी पूर्णता एवं क्रमबद्धता खो बैठीं। परंतु परंपरा एवं मूल विचार, अपनी शक्ति के किसी व्यापक प्रभाव तथा अपनी प्रणालियों के किसी रूप के साथ, सांस्कृतिक ओजस्विता के संपूर्ण युग में स्थाई रूप से बने रहे। अपने सच्चे रूप और भाव से वह चाहे कितने भी दूर क्यों न हट गए हों, क्षत-विक्षत और जटिल होकर चाहे कितने ही खराब क्यों न हो गए हों, फिर भी उनकी प्रेरणा और शक्ति की कुछ उपस्थिति सदा ही बनी रही।

(ख) द्वितीय बोध - आध्यात्मिक ध्येय पर आग्रह

इस बोध पर आधारित आध्यात्मिक प्रयास या सांस्कृतिक प्रयत्न और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। क्योंकि उसी ने सदा जीवित रहकर भारतीय मन और जीवन को स्थाई रूप से रंगे रखा है, रूपों के प्रत्येक परिवर्तन के पीछे वह सदा ही ज्यों का त्यों बना रहा है और सभ्यता के सभी युगों में उसने अपने प्रभाव का नवीनीकरण किया है और अपने क्षेत्र पर अधिकार बनाए रखा है। सांस्कृतिक प्रयास के इस दूसरे पहलू ने सारे के सारे जीवन को धार्मिक साँचे में ढालने के प्रयत्न का रूप ग्रहण किया, इसने ऐसे-ऐसे साधनों और उपायों को बढ़ाया जो अपने आग्रहपूर्ण सुझाव और सुअवसर तथा अपने बड़े भारी प्रभाव के द्वारा

संपूर्ण जीवन पर ईश्वरोन्मुख प्रवृत्ति की छाप लगाने में सहायक हों। भारतीय संस्कृति जीवन के एक धार्मिक बोध पर प्रतिष्ठित थी और व्यक्ति तथा समाज दोनों ने ही प्रतिक्षण इसके प्रभावामृत का पान किया। प्रशिक्षण और शिक्षा-पद्धति के द्वारा उन पर इसकी छाप लगायी जाती थी : जीवन का संपूर्ण वातावरण, समाज की समस्त परिस्थितियाँ इससे ओतप्रोत थी। यह संस्कृति के संपूर्ण मौलिक विधि-विधान और पुरोहितिक रूप में अपनी शक्ति फूँकता था। बराबर ही आध्यात्मिक जीवन के अंतरंग विचार और उसकी प्रधानता को अन्य सबसे अधिक ऊँचे एक आदर्श के रूप में अनुभव किया जाता था; इस विचार का प्रबल प्रभाव सभी जगह व्याप्त था कि यह जगत् भागवत् शक्तियों की अभिव्यक्ति है तथा भगवान् की उपस्थिति से परिपूर्ण एक व्यापार है। स्वयं मनुष्य को कोई निरा तर्कशील प्राणी नहीं बल्कि एक अंतरात्मा माना जाता था जिसका ईश्वर तथा दिव्य वैश्व-शक्तियों के साथ अटूट संबंध बना रहता है। अंतरात्मा के अविच्छिन्न अस्तित्व को एक जन्म से दूसरे जन्म में होने वाला चक्राकार या ऊर्ध्वमुख विकास माना जाता था, मानव-जीवन एक ऐसे विकास का शिखर था जिसकी समाप्ति चिन्मय आत्मा में होती थी, इस जीवन की प्रत्येक अवस्था को विकासात्मक तीर्थयात्रा का एक पग माना जाता था। मनुष्य का हरएक काम भावी जन्मों में या भौतिक जीवन से परे के लोकों में मिलने वाले अपने फल के लिए महत्व रखता था।

(ग) अधिकार, मनुष्य की बदलती हुई स्वाभाविक क्षमता

दूसरा बोध धार्मिक विचारों, प्रशिक्षण, वातावरण, संस्कृति पर उसकी छाप के सामान्य प्रभाव से संबंधित था। पर हिन्दू धर्म इससे ही संतुष्ट नहीं था और वह केवल इस पर ही नहीं रुक गया। उसने मन पर प्रतिक्षण और प्रत्येक ब्यौरे में धार्मिक प्रभाव अंकित करने का अनवरत प्रयत्न किया और एक सजीव एवं क्रियात्मक सामंजस्य-संपादन के द्वारा अधिक प्रभावशाली ढंग से यह कार्य करने के लिए उसने किसी व्यक्ति से उसकी शक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक या बहुत कम माँग नहीं की बल्कि मनुष्य की विभिन्न स्वाभाविक क्षमता, अर्थात् अधिकार, के संबंध में अपने अनुभव को अपना मार्गदर्शक विचार बनाया। उसने अपनी प्रणाली में ऐसे साधन प्रस्तुत किये जिनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य, वह चाहे उच्च हो या निम्न, ज्ञानी हो या अज्ञानी, असामान्य हो या सामान्य, अपनी प्रकृति और विकासावस्था के उपयुक्त तरीके से पुकार, दबाव एवं प्रभाव को अनुभव कर सके। जो धर्म प्रत्येक मनुष्य पर उसकी प्रकृति की संभावनाओं की कुछ भी परवाह न कर एक ही कट्टर एवं अनमनीय नियम को लाद देते हैं उनकी भूल से बचते हुए उसने उसे धीमे-धीमे ऊपर की ओर उठा ले जाने तथा धार्मिक एवं आध्यात्मिक अनुभव में दृढ़तापूर्वक विकसित होने के लिए सहायता देने का यत्न किया। मानव-प्रकृति के प्रत्येक भाग तथा उसकी प्रत्येक विशिष्ट कार्यधारा को इस प्रणाली में स्थान दिया गया था; प्रत्येक भाग एवं कार्यधारा आध्यात्मिक विचार और धार्मिक प्रभाव से उपयुक्त रूप में परिवेष्टित थी, प्रत्येक को ऐसे सोपान प्रदान किये गए थे जिनके द्वारा वह अपनी आध्यात्मिक संभावना और आध्यात्मिक अर्थ को प्राप्त हो सके।

मानव-प्रकृति की प्रत्येक विकसनशील शक्ति के शिखरों पर जीवन के उच्चतम आध्यात्मिक तात्पर्य की स्थापना की गई थी। बुद्धि को परम ज्ञान की ओर आहूत किया गया था, ऊर्जस्वी, सक्रिय और सृजनशील शक्तियों को असीम और विश्वव्यापी संकल्प की ओर उन्मुख रहने तथा उसके साथ एक होने के लिए संकेत दिया गया था; हृदय और इंद्रियों को दिव्य प्रेम, हर्ष और सौन्दर्य के सम्पर्क में लाया गया था। परंतु यह उच्चतम अर्थ सभी जगह, जीवन-यापन की संपूर्ण प्रणाली के पीछे, यहाँ तक कि उसकी बारीकियों के पीछे भी संकेतों या प्रतीकों के रूप में भी रखा गया था, जिससे कि इसका प्रभाव किसी-न-किसी मात्रा में जीवन पर पड़े, उस पर अधिकाधिक फैलता चला जाए और अंत में जीवन की बागडोर पूर्ण रूप से अपने हाथ में ले ले। यह था लक्ष्य और यदि हम अपनी प्रकृति की अपूर्णताओं और इस प्रयास की कठिनाई का विचार करें तो हम कह सकते हैं कि इसे असाधारण मात्रा में सफलता प्राप्त हुई। कुछ अंश में यह सच ही कहा गया है कि भारतवासियों के लिए सारे का सारा जीवन ही धर्म है। भारतीय जीवन के आदर्श के प्रति सच्ची होती हुई यह बात कुछ हद तक और किसी अर्थ में उसके कार्य और अभ्यास के बारे में भी सत्य है। किसी भी भारतीय को उसके आध्यात्मिक अस्तित्व का स्मरण कराये बिना उसके आंतर या बाह्य जीवन में कुछ भी नहीं किया जा सकता। सभी जगह वह किसी ऐसी वस्तु की समीपता अनुभव करता था या कम-से-कम उसका चिह्न देखता था जो उसके प्राकृत जीवन से, वर्तमान मुहूर्त से, उसके व्यक्तिगत अंह से परे है, उसकी प्राणिक और भौतिक प्रकृति की रुचियों और आवश्यकताओं से भिन्न हैं। उस वस्तु पर दिया गया यह बल उसके विचार, कर्म और अनुभूति पर अपना रंग और प्रभाव डालता था; यह आध्यात्मिक पुकार के प्रति उस सूक्ष्मतर संवेदनशीलता तथा आध्यात्मिक प्रयास की ओर मुड़ने के लिए उस महत्तर तत्परता को जन्म देता था जो आज भी भारतीय स्वभाव के विशेष लक्षण हैं। यही वह तत्परता एवं संवेदनशीलता है जो, जब हम भारत-जाति की स्वभावगत आध्यात्मिकता की चर्चा करते हैं तब हमें उचित ठहराती है।

यदि हम भारतीय धर्म के अनूठे स्वरूप को समझना चाहें तो हमें अधिकार की प्राचीन धारणा पर ध्यानपूर्वक विचार करना होगा। अन्य अधिकतर धर्म-प्रणालियों में हम एक उदात्त आध्यात्मिक पुकार और एक कठिन एवं कठोर नैतिक मानदंड पाते हैं जो मनुष्य की अर्द्धविकसित, दोषयुक्त एवं अपूर्ण प्रकृति की संभावनाओं से बहुत ही परे का होता है। इस मानदंड एवं इस पुकार को इस प्रकार उद्घोषित किया जाता है मानो ये सभी के लिए अपरिहार्य हो; किंतु यह स्पष्ट ही है कि बहुत ही कम लोग इनका पर्याप्त रूप में प्रत्युत्तर दे सकते हैं। जीवन का संपूर्ण चित्र खड़ा करने के लिए हमारी दृष्टि के सम्मुख दो छोर उपस्थित किये जाते हैं जो एक-दूसरे से स्पष्टतया भिन्न होते हैं; संत और संसारी, धार्मिक और अधार्मिक, भले और बुरे, पुण्यात्मा और पापी, स्वीकृत आत्माएँ और परित्यक्त आत्माएँ, सज्जन और दुर्जन, रक्षित और दंडित, आस्तिक और नास्तिक – ये दो श्रेणियाँ हैं जो निरंतर

हमारे सामने उपस्थित की जाती हैं। इन दोनों के बीच में है बस केवल अस्तव्यस्तता, रस्साकसी एवं अनिश्चित संतुलन। यही स्थूल और संक्षिप्त वर्गीकरण नित्य स्वर्ग और नित्य नरकरूपी ईसाई धर्मप्रणाली का मूल आधार है, अच्छे से अच्छे रूप में भी, कैथोलिक धर्म दयापूर्वक नौ-दशमांश से भी अधिक मानवजाति के लिए उस सुखद और इस भीषण विकल्प के बीच अधर में झूलने वाला एक अनिश्चित अवसर, एक दुःखदायी पापमोचनालय की संभावना उपस्थित करता है। भारतीय धर्म ने अपने शिखरों पर एक और भी उदारचेता आध्यात्मिक पुकार स्थापित की, आचार-व्यवहार का एक और भी पूर्ण एवं अखंड मानदंड स्थापित किया; परंतु उसने इस प्रकार के सीमित और विचारशून्य अज्ञान के साथ अपना कार्य करने का प्रयत्न नहीं किया।

(घ) धार्मिक विकास की क्रमबद्ध पद्धति

भारतीय मन के लिए सभी जीव भगवान् के अंश हैं, विकासपरायण अंतरात्माएँ हैं, और अंत में उनका आत्मा के भीतर संसार से छुटकारा और मोक्ष प्राप्त करना निश्चित है। ज्यों-ज्यों मनुष्यों में विद्यमान 'शुभ' तत्त्व विकसित होता जाएगा या, अधिक ठीक रूप में, ज्यों-ज्यों उनका अंतरस्थित देवत्व अपने-आपको पाता और सचेतन होता जाएगा त्यों-त्यों सब लोग अपनी उच्चतम सत्ता का चरम स्पर्श और उसकी पुकार अवश्य अनुभव करेंगे और उस पुकार के द्वारा सनातन एवं भगवान् की ओर आकर्षण भी अनुभव करेंगे। परंतु वस्तुतः जीवन में मनुष्य-मनुष्य के बीच अनंत भेद हैं; कुछ लोग तो आंतरिक रूप से अधिक विकसित हैं और दूसरे कम परिपक्व हैं, अधिकतर नहीं तो बहुत-से लोग अध्यात्म-दृष्टि से शिशु हैं जो बड़े कदम उठाने और कठिन प्रयत्न करने के लिए अयोग्य हैं। प्रत्येक के साथ उसकी प्रकृति और उसकी आत्मिक उच्चता के अनुसार व्यवहार करने की आवश्यकता होती है। *भारतीय धर्म मनुष्य को तीन प्रकारों में विभाजित करता है — तामसिक, राजसिक और सात्विक, जो कि क्रमशः तामस, राजस और सत्व के बाहुल्य पर निर्भर करता है क्योंकि वास्तव में ये तीनों ही गुण हर स्वभाव में विद्यमान रहते हैं।* इस भेद का अर्थ विकसित होती हुई मानव-चेतना की तीन अवस्थाओं का क्रम ही है। पहली श्रेणी का मनुष्य स्थूल, अनगढ़, अभी तक बहिर्मुख और अभी तक प्राण-प्रधान एवं देहप्रधान मन वाला होता है और उसे अपने अज्ञान के उपयुक्त उपायों से ही परिचालित किया जा सकता है। दूसरी श्रेणी का मनुष्य अत्यधिक प्रबल एवं गंभीर चैत्य-आध्यात्मिक अनुभव के योग्य होता है और मनुष्यत्व का एक ऐसा परिपक्वतर रूप प्रस्तुत करता है जो अधिक सचेतन बुद्धि और विस्तृततर प्राणिक या सौन्दर्योन्मुख उद्घाटन से तथा प्रकृति की एक बलवत्तर नैतिक शक्ति से संपन्न होता है। तीसरी श्रेणी का, अर्थात् सर्वाधिक परिपक्व एवं विकसित मनुष्य आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक पहुँचने के लिए तैयार होता है, परमेश्वर के और अपनी सत्ता के उच्चात्युच्च चरम सत्य को ग्रहण करने या उस ओर आरोहण करने तथा दिव्य अनुभव के शिखरों पर पग रखने के योग्य होता है।

इनमें से प्रथम प्रकार या स्तर की माँग को पूरी करने के लिए ही भारतीय धर्म ने संकेतपूर्ण संस्कार-समारोह और प्रभावशाली कर्मकांड तथा कठोर बाह्य नियम एवं आदेश के उस समूह को तथा आकर्षक एवं विवशकारी प्रतीक के उस समस्त समारोह को जन्म दिया था जिसके द्वारा यह धर्म-प्रणाली इतने समृद्ध रूप से संपन्न या विपुल रूप से विभूषित है। ये संस्कार आदि, अधिकांश में, निर्माणकारी और सांकेतिक वस्तुएँ हैं जो मन पर उसकी सचेतन और अवचेतन अवस्था में क्रिया करती हैं और उसे इन वस्तुओं के पीछे अवस्थित महत्तर शाश्वत वस्तुओं का मर्म समझने के लिए तैयार करती हैं। और इस श्रेणी के लिए ही, इसके प्राणिक मन और इच्छा शक्ति के लिए ही, धर्म का वह सब भाग अभिप्रेत है जो मनुष्य को उसकी कामनाओं और स्वार्थों की उचित-न्याय और नियम, अर्थात् धर्म के अधीन होने के कारण उचित-पूर्ति के हेतु भागवत शक्ति या दैवी शक्तियों की ओर मुड़ने के लिए आदेश देता है। वैदिक काल में बाह्य आनुष्ठानिक यज्ञ और बाद के युग में वे सभी धार्मिक आचार और विचार जो मंदिर की पूजा की रीतियों और प्रतिमाओं तथा नित्य होने वाले पर्व-उत्सव और संस्कार, एवं बाह्य आराधना के दैनिक कर्म के चारों ओर प्रत्यक्ष रूप में जमा हो गए थे, इस श्रेणी या इस आत्मिक स्थिति की आवश्यकता को पूरा करने के लिए ही अभिप्रेत थे। इनमें से बहुत-सी चीजें विकसित मन वाले व्यक्ति को अज्ञानपूर्ण एवं अर्ध-प्रबुद्ध धर्मभाव से संबद्ध प्रतीत हो सकती हैं; परंतु इनके अंदर भी इनका अपना एक गुप्त सत्य निहित है तथा इनका अपना आंतरात्मिक मूल्य भी है और जड़ प्रकृति के अज्ञान में ढकी हुई अंतरात्मा के विकास और कठिन जागरण के लिए ये इस अवस्था में अनिवार्य भी हैं।

बीच का स्तर, दूसरा प्रकार भी इन्हीं चीजों से आरंभ करता है, पर वह इनकी तह में भी जाता है, वह उन आंतरात्मिक सत्यों, बौद्धिक परिकल्पनाओं, सौंदर्यबोधात्मक संकेतों, नैतिक मूल्यों तथा बीच में आने वाली अन्य सभी दिशाओं को अधिक स्पष्ट और सचेतन रूप से समझने में समर्थ होता है जिन्हें भारतीय धर्म ने बड़ी सावधानी के साथ अपने प्रतीकों के पीछे रखा था। ये बीच के सत्य इस धर्मप्रणाली के बाह्य आचारों में जीवन का संचार करते हैं और जो लोग इन्हें पकड़ पाते हैं वे इन मानसिक संकेतों के द्वारा मन के परे की चीजों की ओर जा सकते हैं तथा आत्मा के गंभीरतर सत्यों के निकट पहुँच सकते हैं। मानवता की यह ऊपर उठने वाली श्रेणी अपने उपयोग के लिए दार्शनिक, चैत्य-आध्यात्मिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक और भावमय धार्मिक अन्वेषण के उस समस्त विशाल एवं समृद्ध मध्य स्तर की माँग करती है जो भारतीय संस्कृति के ऐश्वर्य का अधिक विस्तृत एवं महत्वपूर्ण भाग है। इसी अवस्था में विचारकों के दर्शन-शास्त्रों, सूक्ष्म प्रकाशप्रद तर्क-वितर्कों और अनुसंधानों का उदय होता है; इसी में भक्ति की अधिक उदात्त या अधिक प्रगाढ़ भूमिकाएँ होती हैं, यहीं 'धर्म' के उच्चतर, वृहत्तर या कठोरतर आदर्शों की प्रस्थापना की जाती है; यहीं सनातन एवं अनंत के आंतरात्मिक निर्देश एवं प्रथम सुनिश्चित प्रेरणाएँ

फूट निकलती हैं जो अपनी पुकार और आश्वासन के द्वारा मनुष्यों को योगाभ्यास की ओर आकृष्ट करती हैं।

तीसरी और महानतम श्रेणी आध्यात्मिक सत्य के प्रकाशमय स्तरों व आध्यात्मिक ज्ञान के पूर्ण प्रकाश तक आरोहण करने में सक्षम है। ऐसा तब होता है जब यह आध्यात्मिक सत्य और ज्ञान पर्दे से बाहर निकलता है, समझौतापरस्ती से ऊपर उठता है तथा तमाम प्रतीकों एवं मध्यवर्ती महत्ताओं के पार निरपेक्ष और वैश्विक दिव्य जीवन, सौंदर्य, ज्ञान, समस्त प्राणियों के साथ एकता, करुणा और उदारता तक जा पहुँचता है। ये दिव्यतम चीजें उस मानवप्राणी के लिए एक विरासत थीं जो दिव्यता के लिए पात्र होता था और इन दिव्यतम चीज़ों की पद्धति और पुकार ही भारतीय धर्म और योग की सर्वोच्च महत्ताएँ थीं।

परंतु भेदों की रेखाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें मानव-प्रकृति की अनंत जटिलता में सदा ही पार किया जा सकता है, और वास्तव में वहाँ कोई ऐसा तीव्र भेद नहीं था जिसे दूर न किया जा सके, वह तो केवल एक क्रम था, क्योंकि ये तीनों शक्तियाँ सभी मनुष्यों के अंदर अपने प्रकृत या संभाव्य रूप में एक साथ ही रहती हैं। मध्यवर्ती और उच्चतम अर्थ दोनों ही निकट और उपस्थित थे तथा संपूर्ण प्रणाली में व्यापे हुए थे, और कुछ प्रतिबंधों के होते हुए भी उच्चतम स्थिति तक पहुँचने के मार्ग किसी भी मनुष्य के लिए पूर्ण रूप से बंद नहीं किये गए थे: व्यवहार में ये प्रतिबंध टूट जाते थे या फिर जो मनुष्य पुकार अनुभव करता था उसके निकलने के लिए मार्ग छोड़ देते थे; स्वयं पुकार ही चुनाव का चिह्न होती थी। उसे केवल मार्ग और गुरु की खोज करनी होती थी। परंतु मार्ग सीधा होने पर भी अधिकार, अर्थात् विभिन्न क्षमता और नानाविध प्रकृति, अर्थात् स्वभाव का सिद्धांत सूक्ष्म रूपों में स्वीकार किया जाता था। उदाहरण के तौर पर हम भारत के इष्ट-देवता संबंधी अर्थपूर्ण विचार को ले सकते हैं, इष्ट देवता का मतलब है भगवान् का कोई विशेष नाम, रूप एवं भावना जिसे प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति में विद्यमान आकर्षण, और अपनी आध्यात्मिक बुद्धि की सामर्थ्य के अनुसार अपने पूजन और अंतर मिलन के लिए चुन सकता है और पाने की चेष्टा कर सकता है। और भगवान् के ऐसे रूपों में से प्रत्येक रूप उपासक के लिए अपने बाह्य प्रारंभिक संपर्क और संकेत रखता है, उसकी बुद्धि के प्रति तथा उसकी प्रकृति की आंतरात्मिक, सौंदर्यग्राही और भावुक शक्ति के प्रति अपना एक आकर्षण और इसके साथ ही अपना एक सर्वोच्च आध्यात्मिक अर्थ रखता है जो देवाधिदेव के किसी एक सत्य के द्वारा आध्यात्मिकता के सारतत्त्व के भीतर ले जाता है। हम इस बात को भी ध्यान में रख सकते हैं कि योग की साधना में शिष्य को उसकी प्रकृति के द्वारा तथा उसकी क्षमता के अनुसार ही ले चलना होता है और आध्यात्मिक गुरु एवं मार्ग-निर्देशक से यह आशा की जाती है कि वह अपनी सहायता एवं मार्ग-निर्देश देते समय आवश्यक स्तरों को और वैयक्तिक आवश्यकता तथा सामर्थ्य को देखेगा और उन्हें ध्यान में रखेगा। इस विशाल और

नमनशील प्रणाली की वास्तविक कार्य शैली की अनेक वस्तुओं पर आपत्ति की जा सकती है। परंतु इस प्रणाली का मूल सिद्धांत और इसके प्रयोग की मुख्य रूप-रेखाएँ ऐसी विलक्षण बुद्धिमत्ता, मानव-प्रकृति के ऐसे ज्ञान तथा सतर्क निरीक्षण का और आत्मिक विषयों में पैठने वाली ऐसी असंदिग्ध अंतर्दृष्टि का मूर्त्त रूप है जिस पर ऐसा कोई भी व्यक्ति संदेह नहीं कर सकता जिसने इन कठिन विषयों पर गहराई के साथ और दुराग्रह के बिना विचार किया है अथवा हमारी प्रकृति की उन बाधाओं और संभाव्यताओं का घनिष्ठ अनुभव प्राप्त किया है जो गुप्त आध्यात्मिक सद्वस्तु की ओर जाते समय इसके मार्ग में प्रकट होती है।

४. जीवन की सामान्य संस्कृति के साथ जटिल आध्यात्मिक और धार्मिक विकास का संयोजन

एक व्यापक घनिष्ठ संबंध की प्रक्रिया के माध्यम से ऊपर वर्णित जटिल धार्मिक-आध्यात्मिक व्यवस्था जीवन की सामान्य संस्कृति के साथ जुड़ी हुई थी। इस दिशा में ऋषियों, आचार्यों और गुरुओं द्वारा किये गए प्रयासों के परिणामस्वरूप धर्मों का बोध और शास्त्रों का सृजन हुआ।

(क) ऋषि और शास्त्र

इस कार्य का सबसे नाजुक और कठिन अंश मनुष्य की विचारशील सत्ता, उसके तार्किक मन और ज्ञान से संबंधित है। भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त अन्य किसी भी ज्ञात प्राचीन संस्कृति ने, यहाँ तक कि यूनानी संस्कृति ने भी, मनुष्य की सत्ता के इस भाग को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया और न ही इसके विकास के लिए इतना अधिक प्रयास किया।

प्राचीन ऋषि का काम केवल परमेश्वर को जानना ही नहीं बल्कि जगत् और जीवन को जानना तथा ज्ञान के द्वारा इन्हें एक ऐसी सुविज्ञात एवं नियंत्रित वस्तु बना देना भी था जिसके साथ मनुष्य की तर्कबुद्धि और इच्छाशक्ति एक सुनिश्चित रूपरेखा के अनुसार और एक ज्ञानपूर्ण विधि एवं व्यवस्था के सुरक्षित आधार पर व्यवहार कर सकें। इस प्रयास का परिपक्व फल था शास्त्र। आजकल जब हम शास्त्र का नामोल्लेख करते हैं तो प्रायः ही हमारा अभिप्राय विधि-विधानों की उस मध्ययुगीन धर्म्य-सामाजिक प्रणाली से ही होता है जिसे पौराणिक कथाओं के द्वारा मनु, पराशर तथा अन्य वैदिक ऋषियों से संबद्ध बतलाकर अत्यंत पवित्र रूप दे दिया जाता है। परंतु प्राचीनतर भारत में 'शास्त्र' शब्द का अर्थ था कोई भी प्रणालीबद्ध शिक्षा एवं विज्ञान, जीवन के प्रत्येक विभाग, कार्यकलाप की प्रत्येक शाखा तथा ज्ञान के प्रत्येक विषय का अपना विज्ञान या शास्त्र होता था। इस प्रयास का उद्देश्य यह था कि इनमें से प्रत्येक को एक ऐसी सैद्धांतिक और व्यावहारिक परिपाटी में परिणत कर दिया जाए जो विवरणात्मक निरीक्षण, यथार्थ सामान्यीकरण, पूर्ण अनुभव और अंतर्ज्ञानमूलक, तार्किक एवं परीक्षणात्मक विश्लेषण और समन्वय पर आधारित हो जिससे कि मनुष्य सदा

ही इन्हें जीवन के लिए समुचित उपयोगिता के साथ जान सके और फिर यथार्थ ज्ञान-मूलक सुनिश्चितता के साथ कार्य भी कर सकें। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी चीजों की छानबीन एक सी सतर्कता और सावधानी से करके प्रत्येक की अपनी कला एवं विद्या प्रस्तुत की जाती थी। यहाँ तक कि उच्चतम अध्यात्म ज्ञान को भी, जब कभी उसका प्रतिपादन उपनिषदों की भाँति अंतर्ज्ञानात्मक अनुभव और सत्य-प्रकाशक ज्ञान की राशि के रूप में नहीं वरन् बुद्धि से समझने के लिए एक नियम और क्रम के साथ किया जाता था, शास्त्र के नाम से ही पुकारा जाता था, – और इसी अर्थ में गीता अपनी गहन आध्यात्मिक शिक्षा को अत्यंत गुह्य विज्ञान, **गुह्यतमं शास्त्रम्** का नाम देने में समर्थ हुई है। इस उच्च वैज्ञानिक एवं दार्शनिक भावना को प्राचीन भारतीय संस्कृति ने अपनी सभी कार्य-प्रवृत्तियों में संचारित किया था। कोई भी भारतीय धर्म अपनी प्रारंभिक अभ्यास की बाह्य प्रणाली, अपने आधारभूत दर्शन और अपने योग या आंतरिक साधना-पद्धति, या अध्यात्म जीवनयापन करने की कला के बिना पूर्ण नहीं होगा; उसके अंदर जो कुछ प्रथम दृष्टि में अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है उसका भी अधिकांश अपना दार्शनिक रूप और अर्थ रखता है। इसी पूर्ण बोध एवं दार्शनिक स्वरूप ने भारत में धर्म को इसकी स्थाई सुरक्षा और अमित जीवन-शक्ति प्रदान की है और इसे आधुनिक संदेहवादी छानबीन की तेजाब-सी द्रावक शक्ति का प्रतिरोध करने में समर्थ बनाया है, जो चीज अनुभव और तर्कबुद्धि पर सम्यक् प्रतिष्ठित नहीं है उसी को वह शक्ति गला सकती है न कि इन महान् शिक्षाओं के मर्म और विचार को। परंतु जो चीज हमें अपेक्षाकृत विशेष रूप से देखनी है वह यह है कि यद्यपि भारतीय संस्कृति ने परा और अपरा विद्या, वस्तुओं के ज्ञान तथा आत्मा के ज्ञान में भेद किया था, तथापि उसने कुछ धर्मों की तरह उनके बीच खाई नहीं तैयार की थी; बल्कि जगत् और वस्तुओं के ज्ञान को उसने आत्मा और ईश्वर के ज्ञान का एक आरंभिक सोपान तथा उस ओर मार्ग निर्देश करने वाला पथ माना था। सभी शास्त्रों पर ऋषियों के नामों की छाप लगायी जाती थी जो ऋषि आरंभ में केवल आध्यात्मिक सत्य और दर्शन के ही नहीं बल्कि कलाओं, सामाजिक, राजनैतिक, सामरिक, भौतिक और आंतरात्मिक विज्ञानों के भी गुरु होते थे और प्रत्येक शिक्षक अपनी-अपनी मात्रा में गुरु या आचार्य, अर्थात् मानव आत्मा के मार्गदर्शक या उपदेष्टा के रूप में सम्मानित होता था, – और यह बात ध्यान देने योग्य है कि समस्त भारतीय दर्शन का, यहाँ तक कि न्यायशास्त्र के तर्क और वैशेषिकों के अणु-सिद्धांत का भी उच्चतम मूर्धन्य स्वर एवं अंतिम लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान और मोक्ष ही है। सभी ज्ञानों को बुनकर एक बना दिया गया था और उन्हें क्रमशः एकमात्र उच्चतम ज्ञान तक पहुँचाया गया था।

(ख) नैतिक संस्कृति और धर्म का ताना-बाना

उच्चतम ज्ञान पर प्रतिष्ठित जीवन का सम्पूर्ण समुचित व्यवहार भारतीय संस्कृति की दृष्टि में 'धर्म' कहलाता था, अर्थात् आत्म-विकास के, जगत् और जीवन-संबंधी ज्ञान तथा

उस ज्ञान की अवस्था में किये गए कर्म के यथार्थ बोध (ज्ञान) और समुचित दृष्टि के अनुसार जीवन-यापन धर्म कहलाता था। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य, वर्ग, जाति और उपजाति का तथा अंतरात्मा, मन, प्राण एवं शरीर की प्रत्येक क्रिया का अपना धर्म होता है। परंतु धर्म का सबसे बड़ा या कम-से-कम अत्यंत आवश्यक और अत्यधिक आवश्यक भाग मनुष्य की नैतिक प्रकृति को समुन्नत और सुव्यवस्थित करना ही माना जाता था। जीवन का नैतिक पक्ष, उन भारतीय विचारों और कृतियों का ध्यान काफी विपुल परिमाण में आकृष्ट करता था एवं उनका एक बहुत बड़ा भाग होता था जो शुद्ध ज्ञान और आत्मा के विषयों की चर्चा नहीं करती और इनमें उसे इतनी दूर तक ले जाया जाता था कि ऐसी कोई नैतिक धारणा या आदर्श नहीं जो इनमें अपनी परिकल्पना के उच्चतम शिखर पर एवं आदर्श आचरण की एक प्रकार की दैवी चरम सीमा पर न पहुँच जाय। भारतीय विचार यह मानता था कि अपनी कामनाओं को तृप्त करना मनुष्य के लिए उचित है, क्योंकि यह जीवन की तुष्टि और इसके विस्तार के लिए आवश्यक है, किंतु अपनी सत्ता के विधान के रूप में कामनाओं के आदेशों का पालन करना उसके लिए उचित नहीं; क्योंकि सभी चीजों में एक महत्तर विधान है, प्रत्येक का केवल अपना स्वार्थ और कामना का पहलू ही नहीं है बल्कि अपने यथार्थ व्यवहार, यथार्थ तुष्टि, विस्तार और व्यवस्था का एक धर्म या नियम भी है। अतएव शास्त्र में ज्ञानियों के द्वारा नियत किया हुआ धर्म आचरण करने के लिए यथार्थ विधान है, कर्म का सच्चा नियम है। धर्म के जटिल जाल में सबसे पहले आता है सामाजिक विधान; क्योंकि मनुष्य का जीवन केवल प्रारंभिक रूप में ही उसके अपने प्राणिक, वैयक्तिक, विशिष्ट 'स्व' के लिए है, पर कहीं अधिक अनिवार्य रूप में तो वह समष्टि के ही लिए है, यद्यपि, सर्वाधिक अनिवार्य-रूप में, वह उसके तथा सब भूतों के अंदर विद्यमान एक ही महत्तम आत्मा के लिए है, ईश्वर एवं परमात्मा के लिए है। अतएव सबसे पहले व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने-आपको समाज-सत्ता के अधीन कर दे, यद्यपि वह किसी भी प्रकार उसमें अपने-आपको पूर्ण रूप से मिटा देने के लिए बाध्य नहीं है जैसा कि समाजवादी विचार के चरम समर्थक समझते हैं। उसे अपनी प्रकृति के विधान को अपने सामाजिक वर्ण एवं श्रेणी के विधान के साथ समस्वर करके राष्ट्र के लिए जीवनयापन करना चाहिये और अपनी सत्ता के उच्चतर स्तर में मानवजाति के हितार्थ जीवन बिताना चाहिये, जिस पर बौद्धों ने अत्यधिक बल दिया था। इस प्रकार जीवनयापन और कर्म करता हुआ वह धर्म के सामाजिक मानदंड को अतिक्रम करना सीख सकता है और जीवन के आधार को आघात पहुँचाये बिना आदर्श मानदंड का अनुसरण करता हुआ अंत में आत्मा की स्वतंत्रता में विकसित हो सकता है, जब कि नियम और कर्त्तव्य बंधनरूप नहीं होंगे क्योंकि तब वह दिव्य प्रकृति के उच्चतम स्वतंत्र और अमर धर्म में विचरेगा और कर्म करेगा। धर्म के ये सब रूप एक विकासशील (प्रगतिशील) एकता के सूत्र में एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, चारों वर्णों में से प्रत्येक का अपना सामाजिक कार्य

और आचार-नियम होता था, पर साथ ही शुद्ध नैतिक सत्ता के विकास के लिए एक आदर्श नियम भी होता था, और प्रत्येक मनुष्य अपने धर्म का पालन करके तथा अपने कर्म को भगवान् की ओर मोड़कर उसके परे आध्यात्मिक स्वातंत्र्य की ओर विकसित हो सकता था। परंतु समस्त धर्म और नैतिकता के पीछे, रक्षा-साधन के रूप में ही नहीं वरन् प्रकाश के रूप में भी, एक धार्मिक अनुमति की स्थापना की जाती थी और जीवन-प्रवाह की अविच्छिन्नता, मनुष्य की अनेक-जन्म-व्यापी लंबी तीर्थयात्रा और देवताओं, परे के लोकों तथा भगवान् के अस्तित्व का स्मरण कराया जाता था और, इन सबसे बढ़कर, पूर्ण ज्ञान और एकत्व तथा दिव्य परात्परता की अंतिम अवस्था की झाँकी प्रस्तुत की जाती थी।

(ग) भारतीय कला, संगीत, साहित्य और प्रकृति के कलात्मक एवं भोगवादी अंगों का विकास

काव्य, नाटक, गीत, नृत्य और संगीत को, बड़ी और छोटी सभी कलाओं को ऋषियों की अनुमति के आधीन कर दिया गया था और आत्मा के उत्कर्ष का साधन बना दिया गया था। एक न्यायसंगत सिद्धांत उन्हें प्राथमिक रूप में शुद्ध रसात्मक तृप्ति का साधन मानता था और प्रत्येक अपने आधारभूत नियम और विधान पर प्रतिष्ठित था, किंतु फिर भी उस आधार पर और उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए प्रत्येक को इतना ऊँचा उठा दिया गया था कि वह सत्ता की बौद्धिक, नैतिक और धार्मिक उन्नति में सहायक हो सके। यह ध्यान देने योग्य बात है कि दो बृहत् भारतीय महाकाव्यों को उतना ही धर्मशास्त्र भी माना गया है जितना कि महान् 'इतिहास' अर्थात् ऐतिहासिक-पौराणिक काव्यात्मक गाथा। तात्पर्य यह है कि वे जीवन के श्रेष्ठ, सजीव और शक्तिशाली चित्र हैं, किंतु उनमें आदि से अंत तक जीवनगत महान् और उच्च नैतिक एवं धार्मिक भावना के नियम और आदर्श का उद्‌गार एवं उच्छ्वास भरा पड़ा है और अपने उच्चतम आशय के रूप में वे भगवान्-संबंधी विचार को और जगत् के कर्म में संलग्न आरोहणशील अंतरात्मा के मार्ग को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्य ने मनुष्य के सामाजिक, नागरिक और वैयक्तिक जीवन की रसात्मक तृप्ति और व्याख्या की सेवा करने से इन्कार नहीं किया; जैसा कि सभी प्रमाणों से प्रकट है, ये चीजें उनके सृजन-संबंधी उद्‌देश्यों का बड़ा भाग थीं, किंतु फिर भी उनका सर्वोच्च कार्य संस्कृति के महत्तम आध्यात्मिक पहलू के लिए सुरक्षित था और हम देखते हैं कि वे सर्वत्र भारतीय मन के द्वारा किये गए अंतरात्मा, परमेश्वर, अध्यात्म-सत्ता एवं अनंत के गंभीर चिंतन के दबाव से अधिकृत और ओतप्रोत हैं। और हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि सौंदर्यप्रेमी एवं सुख-भोगवादी सत्ता को धर्म और आध्यात्मिकता का सहायक साधन बनाकर इस प्रयोजन के लिए उसका खुलकर उपयोग ही नहीं किया गया था बल्कि उसे परमात्मा की ओर मनुष्य की यात्रा का एक मुख्य द्वार भी बना दिया गया था। विशेषकर, वैष्णव धर्म प्रेम और सौंदर्य का तथा भगवान् के अंदर मनुष्य की संपूर्ण आनंदात्मक सत्ता की परितृप्ति का धर्म है और यहाँ तक कि इसके अंतर्दर्शन ने

इंद्रियभोग्य जीवन की कामनाओं और प्रतिमूर्तियों को भी दिव्य आत्मानुभव के रूपकों में परिणत कर दिया था। विरले ही धर्म इस अपरिमित उदारता तक पहुँच पाये हैं अथवा संपूर्ण प्रकृति को अध्यात्म-सत्ता एवं अनंत की ओर – उसकी व्यापक, शक्तिशाली और बहुमुखी पहुँच में – इतनी ऊँचाई तक ले गए हैं।

(घ) ऋषि, धर्म, शास्त्र और मानव की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सत्ता की आध्यात्मिक आदर्श के प्रति आधीनता

ये सभी भाग जो मनुष्य के सब से अधिक बाहरी प्राणिक जीवन से सम्बन्धित थे, भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति ने उनको भी कर्मठता से अपने हाथों में ले लिया और उनके संपूर्ण ढाँचे को अपने विचारों और धारणाओं के प्रभाव के नीचे ले आई।

इसकी पद्धति सामाजिक जीवन, कर्त्तव्य और उपभोग, सामरिक और राजनैतिक नियम और आचार तथा आर्थिक सुख-समृद्धि के महान् शास्त्र बनाने की थी। इन शास्त्रों का निर्माण एक ओर तो इन प्रवृत्तियों की सफलता, विस्तार और समृद्धि तथा इनके यथार्थ कौशल और संबंध को लक्ष्य में रखकर किया गया था, परंतु इन लक्ष्यों पर, जिनकी प्राणप्रधान मनुष्य का निज स्वभाव और उसके कर्म का वास्तविक स्वरूप माँग करते हैं, धर्म के विधान अर्थात् कठोर सामाजिक और नैतिक आदर्श एवं नियम को तथा धार्मिक कर्त्तव्य की निरंतर याद दिलाने वाले विधान को लागू किया गया था, इस प्रकार प्रभुत्व और उत्तरदायित्व रखनेवाली प्रमुख सत्ता के रूप में राजा का संपूर्ण जीवन हर एक घंटे और अपने हर एक कार्य में धर्म के द्वारा ही नियंत्रित होता था। बाद के युग में राजकौशल संबंधी मेकियावेलियन कूट सिद्धांत ने, जिसका अनुसरण सरकारें और कूटनीतिज्ञ सदा से करते आये हैं और आज भी करते हैं, इस श्रेष्ठतर प्रणाली पर अतिक्रमण किया, परन्तु भारतीय चिंतन के सर्वोत्कृष्ट युग में इस कलुषित नीति को थोड़े ही समय के लिए सफल होने वाली, पर क्षुद्रतर, हीन और निकृष्ट प्रकार की नीति कहकर निंदा की जाती थी। संस्कृति का महान् नियम यह था कि मनुष्य का पद और अधिकार जितना ही अधिक ऊँचा हो, उसके कर्त्तव्य का क्षेत्र तथा उसके कार्यों एवं दृष्टांत का प्रभाव जितना ही अधिक विस्तृत हो, उस पर धर्म का दावा उतना ही अधिक बड़ा होना चाहिये। समाज के संपूर्ण विधान और आचार के ऊपर ऋषियों और देवताओं के नाम की मुहर लगा दी गई थी, उसे महान् व्यक्तियों और बलशालियों के अत्याचार से सुरक्षित रखा गया था, सामाजिक धार्मिक स्वरूप प्रदान किया गया था और स्वयं राजा को धर्म के संरक्षक और सेवक के रूप में जीवनयापन करने तथा शासन करने का भार सौंपा जाता था, पर उसे केवल समाज के ऊपर प्रशासनीय अधिकार प्राप्त था जो तभी तक व्यवहार्य समझा जाता था जब तक वह निष्ठा के साथ धर्म का पालन करता था। जीवन का यह प्राणिक पहलू एक ऐसा पहलू है जो हमें बिल्कुल आसानी से आंतरिक सत्ता से और जीवनयापन के दिव्यतर उद्देश्य से दूर हटा कर बाहर की ओर घसीट

ले जाता है, अतएव इसे पग-पग पर अत्यंत यत्नपूर्वक धार्मिक विचार के साथ ऐसे ढंग से संबद्ध कर दिया गया था जिसे प्राण प्रधान मनुष्य खूब अच्छी तरह समझ सकता है, वैदिक काल में तो यह संबंध प्रत्येक सामाजिक और नागरिक कार्य के पीछे यज्ञ का पुनः-पुनः स्मरण करा के स्थापित किया जाता था और बाद के युग में धार्मिक रीति-रिवाजों, संस्कारों, पूजा और अपने अंदर देवों के आह्वान् के द्वारा तथा कर्मों के भावी फलों या पारलौकिक लक्ष्य पर बल देकर। इस कार्य में इतना अधिक मनोयोग दिया जाता था कि जहाँ आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा अन्य क्षेत्रों में चिंतन, कर्म और सृजन के लिए पर्याप्त या पूर्ण स्वाधीनता दी जाती थी, वहाँ इस क्षेत्र में कठोर विधान और शास्त्रप्रमाण को लागू करने की प्रवृत्ति थी जो अंत में इतनी अतिरंजित हो गई कि उसने समाज को युग भावना अर्थात् युग धर्म की आवश्यकता के अधिक अनुकूल नये आकारों में अपने को विस्तारित करने से रोक दिया। समाज के लिए तो परिवर्तित आचार-व्यवहार की सहज-स्वाभाविक स्वीकृति की व्यवस्था करके और व्यक्ति के लिए बंधनकारी नियम और आदेश के साधारण सामाजिक ताने-बाने से बाहर, उच्चतर अनुशासन या स्वातंत्र्य से युक्त धार्मिक जीवन को अपनाने की छूट देकर स्वाधीनता का द्वार खुला रखा गया। सामाजिक विधान का कठोर पालन और अनुशासन, धर्म के आदर्श पक्ष से संबद्ध विशालतर एवं उत्कृष्टतर अनुशासन और स्वतंत्रतर आत्मविकास, धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन की व्यापक स्वतंत्रता भारतीय धर्मप्रणाली की तीन शक्तियाँ बन गई थीं। इन शक्तियों के जरिये विस्तारशील मानव आत्मा ऊपर पग बढ़ाती हुई अपनी पूर्णता की ओर आरोहण करती थी।

५. सारांश : प्रयास की सामान्य विशेषताएँ

इस प्रकार भारतीय आदर्शों को जीवन पर लागू करने का संपूर्ण सामान्य स्वरूप आदि से अंत तक इस एक ही बुनावट का बन गया था, वह मनुष्य की अंतरात्मा की उसके आध्यात्मिक जीवन के लिए एक सतत, सूक्ष्मतः क्रमबद्ध, सूक्ष्मतः समस्वर तैयारी के ताने-बाने से बुना हुआ था। सर्वप्रथम, मनुष्य की उस प्राथमिक प्राकृत सत्ता की नियमबद्ध तुष्टि जो धर्म के विधान तथा नैतिक विचार के अधीन होती है तथा प्रतिक्षण धर्म के सुझावों से घिरी रहती है, वह धर्म पहले तो उसके अधिक बाह्य अविकसित मन को आकर्षित करता है, पर अपने प्रत्येक बाह्य प्रतीक और परिस्थिति में एक गंभीरतर अर्थ की ओर खुलता है, अपनी सार्थकता के रूप में गंभीरतम आध्यात्मिक और आदर्श अर्थ के संकेत से लैस होता है। उसके बाद आते हैं उस विकसित बुद्धि और उन आंतरात्मिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक शक्तियों के उच्चतर सोपान जो परस्पर घनिष्ठ रूप से ओतप्रोत हैं तथा जो उक्त प्रकार के उद्‌घाटन के द्वारा अपने से परे अपने आध्यात्मिक लक्ष्य और संभाव्यता के शिखरों तक उठी हुई होती हैं। अंत में, मनुष्य के अंदर की इन प्रगतिशील शक्तियों में से प्रत्येक को उसकी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार मनुष्य की दिव्य और आध्यात्मिक सत्ता में

प्रवेश करने का एक द्वार बना दिया गया था। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि विचारशील बुद्धिप्रधान मनुष्य के स्व-अतिक्रमण के लिए ज्ञानयोग, कर्मठ, शक्तिमय और नैतिक मनुष्य के स्व-अतिक्रमण के लिए कर्मयोग और भावुक, सौंदर्यप्रेमी एवं सुखभोगवादी मनुष्य के स्व-अतिक्रमण के लिए प्रेम तथा भक्ति के योग की रचना की गई थी जिनकी सहायता से प्रत्येक मनुष्य अपनी विशिष्ट शक्ति का आत्म-उन्मुख, आध्यात्मिक एवं ईश्वरोन्मुख प्रयोग करके पूर्णता को प्राप्त करता था, इसी प्रकार चैत्य सत्ता की शक्ति और यहाँ तक कि देहगत प्राण की शक्ति के द्वारा भी अपने-आपको अतिक्रांत करने के यौगिक मार्ग का निर्माण किया गया था, ये योग इस प्रकार के थे कि इनका अनुसरण पृथक्-पृथक् या फिर इन्हें किसी प्रकार के समन्वय में लाकर किया जा सकता था। परंतु स्व-अतिक्रमण के ये सब साधन उच्चतम आत्म-अभिव्यक्ति की ओर ले जाते थे। विश्वव्यापी सत्ता और सर्वभूतों के साथ एक होना, आत्मा और अध्यात्म-सत्ता के साथ एक होना एवं परमेश्वर के साथ युक्त होना ही मानव विकास की पराकाष्ठा और मनुष्य के आत्मोत्कर्ष की अंतिम भूमिका थे।

यदि कोई अन्य संस्कृति प्राचीन भारतीय संस्कृति के ठीक समान और ठीक उसी समय अपनी यात्रा की शुरुआत करती और अपने सामने अति उदात्त आध्यात्मिक उद्देश्य रखते हुए व्यक्तियों और सामूहिकता सहित अपनी समग्र सत्ता को अपनी पूरी ताकत के साथ झोंकते हुए अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रचण्ड रूप से प्रयास करती और तीव्रता तथा एकात्मता की दृष्टि से यह प्रयास जितना सम्भव हो सकता है उतने प्रभावशाली ढंग से करती तो उस स्थिति में अपने वांछित उद्देश्य की ओर अपने प्रयास के क्रम में जिस प्रकार की आध्यात्मिक संस्कृति का ढाँचा तैयार होता, वह ठीक वैसा ही होता जैसा सनातन धर्म का है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सनातन धर्म अथवा हिन्दू धर्म ही वह सर्वाधिक उत्कृष्ट और कुशल साधन है जिसे मानवजाति अपने आध्यात्मिक आदर्श की ओर अपनी यात्रा के लिए आज तक विकसित कर पाई है।

...भारतीय धर्म और आध्यात्मिक संस्कृति की भावना अपनी तेजस्विता के सुदीर्घ काल में अचल-अटल रूप से एक समान ही नहीं रही है, अपितु इसका बाह्य रूप अद्भुत परिवर्तनों में से गुजरा है। फिर भी यदि हम उपयुक्त केन्द्र से इन परिवर्तनों के भीतर दृष्टि डालें तो यह प्रत्यक्ष हो जाएगा कि ये एक युक्ति संगत एवं अवश्यंभावी विकास के परिणाम हैं जो ऊँचाइयों की ओर जाने वाले मनुष्य के विकास की प्रक्रिया में ही अंतर्निहित हैं।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के युग

– तीन अवस्थाएँ

१. वेदों व उपनिषदों का युग - प्रथम अवस्था

(क) वेदों का बाह्य या सुबोध पहलू

भारतीय संस्कृति ने प्राचीनतम रूप में, अर्थात् अपनी प्रथम वैदिक प्रणाली में अपना बाह्य आधार देहप्रधान मनुष्य के मन पर रखा जिसकी स्वाभाविक श्रद्धा जड़ जगत् के भौतिक पदार्थों में इंद्रियगोचर एवं प्रत्यक्ष विषयों, उपस्थितियों और प्रतिमूर्तियों तथा बाह्य व्यापारों और लक्ष्यों में होती हैं। जिन साधनों, प्रतीकों, विधियों और प्रतिरूपों के द्वारा इसने आत्मा और सामान्य मानव मन के बीच मध्यस्थता करने का यत्न किया वे इन अत्यंत बाह्य भौतिक पदार्थों से लिए गए थे। मनुष्य को भगवान् विषयक प्रथम और प्रारंभिक विचार बाह्य प्रकृति के अवलोकन के द्वारा तथा उस उत्कृष्टतर शक्ति या शक्तियों के बोध के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है जो प्रकृति के दृश्य रूपों के पीछे छिपी हुई हैं।

क्योंकि, अनिवार्यतः ही, यही वह आरंभिक ढंग है जिससे उसकी सक्रिय भौतिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृति को देव के पास पहुँचने की अनुमति दी जाती है। उनकी प्रत्यक्ष बाह्य अभिव्यक्तियों के द्वारा वह उन्हें इस रूप में प्राप्त करता है कि वे एक ऐसी वस्तु हैं जो उसकी प्राकृत सत्ता से महान् है, कोई ऐसी एकात्मक या अनेकात्मक वस्तु है जो उसके जीवन का मार्गदर्शन, धारण और परिचालन करती है, और अपने मानव-जीवन की कामनाओं और कठिनाइयों तथा संकटों और संघर्षों में वह उन्हें सहायता और सहारे के लिए पुकारता है। वैदिक धर्म ने उस बाह्याचार को भी स्वीकार किया जिसके द्वारा सभी देशों का आदिकालीन मनुष्य अपने और प्रकृति के देवताओं के पारस्परिक संबंध के विषय में अपने ज्ञान को प्रकट करता था; इसने अपने केन्द्रीय प्रतीक के रूप में भौतिक यज्ञरूपी कर्मकाण्ड एवं क्रियाकलाप को ग्रहण किया।

परंतु अपने बाह्य एवं सार्वजनिक पक्ष में भी वैदिक धर्म ने अपने-आपको मनुष्य के प्राकृत भौतिक मन की प्रथम धार्मिक धारणाओं की इस स्वीकृति एवं उनके नियमन तक ही सीमित नहीं रखा। वैदिक ऋषियों ने लोगों द्वारा पूजे जाने वाले देवताओं के एक आंतरात्मिक कार्य की प्रस्थापना की; उन्होंने लोगों को बतलाया कि एक उच्चतर सत्य, ऋत् एवं 'धर्म' है जिसके कि देवता संरक्षक हैं; उन्होंने यह भी बताया कि एक अधिक सच्चे ज्ञान को प्राप्त करना तथा उक्त सत्य और ऋत् के अनुसार एक अधिक व्यापक अंतर्जीवन यापन करना आवश्यक है। उन्होंने कहा कि अमरता का एक धाम है जिस तक मनुष्य की आत्मा सत्य और सत्कर्म की शक्ति के द्वारा आरोहण कर सकती है। इसमें संदेह नहीं कि लोगों ने इन विचारों को इनके अत्यंत बाह्य अर्थ में ही लिया; परंतु इनके द्वारा उन्हें अपनी नैतिक प्रकृति को विकसित करने, अपने चैत्य पुरुष के किसी आरंभिक विकास की ओर मुड़ने, भौतिक जीवन के ज्ञान और सत्य से भिन्न किसी अन्य ज्ञान और सत्य के विचार को अपनी कल्पना में लाने और यहाँ तक कि जो महत्तर आध्यात्मिक

सद्वस्तु मानव की पूजा या अभीप्सा का अंतिम ध्येय है, उसकी प्रथम परिकल्पना को स्वीकार करने की भी शिक्षा मिलती थी। यह धार्मिक एवं नैतिक शक्ति ही बाह्य धर्ममत की ऊँची से ऊँची उड़ान थी और यही बड़ी-से-बड़ी चीज थी जिसे जन साधारण द्वारा समझा जा सकता था या जिसका वे अनुसरण कर सकते थे।

(ख) वेदों का आन्तरिक या गूढ़ पहलू

इन चीजों का गंभीरतर सत्य दीक्षितों के लिए, अर्थात् उन लोगों के लिए सुरक्षित था जो वेदों के गुप्त आंतरिक आशय, रहस्यमय अर्थ को समझने और उसके अनुसार आचरण करने के लिए तैयार थे। क्योंकि, वेद उन शब्दों से भरा पड़ा है, जो स्वयं ऋषियों के कथनानुसार, रहस्यपूर्ण शब्द हैं और जो केवल दृष्टा के प्रति ही अपना आंतरिक अर्थ प्रकट करते हैं, **कवये निवचना निण्या वचांसि।** यही प्राचीन पवित्र सूक्तों की एक विशेषता है जो पीछे के युगों के लिए धुँधली सी हो गई; यह एक निर्जीव परंपरा बन गई और वैदिक प्रतीकों की सांकेतिक भाषा को पढ़ने के अपने कष्टसाध्य प्रयत्न में आधुनिक विद्वानों ने इसकी पूर्ण रूप से उपेक्षा की है। किंतु प्रायः सभी प्राचीन धर्मों को ठीक प्रकार से समझने के लिए इसे समझना आवश्यक है; क्योंकि अधिकतर वे एक ऐसे गूढ़ तत्त्व के द्वारा अपने ऊर्ध्वमुख पथपर अग्रसर हुए जिसकी चाबी सबको नहीं दी जाती थी। सभी धर्मों में या अधिकतर धर्मों में साधारण भौतिक मनुष्य के लिए एक स्थूल पूजा प्रणाली होती थी, क्योंकि उसे अभी आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन के तथा 'गुह्यतत्त्वों' के – उन 'गुह्यतत्त्वों' को ऐसे प्रतीकों के द्वारा सावधानी-पूर्वक छिपाकर रखा जाता था जिनका अभिप्राय केवल दीक्षितों के लिए ही खोला जाता था .... इस आंतरिक आशय ने ही, बाह्य अर्थ के पीछे छिपे हुए उच्चतर आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक सत्यों ने ही इन सूक्तों को वेद (अर्थात् ज्ञान का ग्रंथ) का नाम दिया जिस नाम से वे आज भी प्रसिद्ध हैं। इस पूजा-पद्धति के गूढ़ अर्थ में प्रवेश करके ही हम वैदिक धर्म के उस पूर्ण विस्तार को हृदयंगम कर सकते हैं जो हमें उपनिषदों में तथा भारतीय आध्यात्मिक खोज और अनुभूति के परवर्ती सुदीर्घ विकास में दिखायी देता है।

(ग) वैदिक शिक्षाओं की महानतम शक्तियाँ

वैदिक शिक्षा की सबसे महान् शक्ति, जिसने इसे सभी परवर्ती भारतीय दर्शनों, धर्मों और योगपद्धतियों का मूलस्रोत बना दिया, उसे मनुष्य के आंतरिक जीवन पर प्रयुक्त किये जाने में निहित थी। इस स्थूल जगत् में मनुष्य मर्त्य जीवन के ''भूरि अनृत'' (अत्यधिक असत्य) के तथा मृत्यु के अधीन होकर रहता है। इस मृत्यु से ऊपर उठने के लिए, अमृत्यों की पंक्ति में बैठने के लिए उसे असत्य से सत्य की ओर मुड़ना होता है; उसे प्रकाश की ओर उन्मुख होना और अंधकार की शक्तियों से जूझना तथा उन्हें जीतना पड़ता है। यह कार्य वह दिव्य शक्तियों के साथ अपना संपर्क स्थापित करके और उनकी सहायता लेकर

संपन्न करता है; इस सहायता को नीचे पुकार लाने का तरीका ही वैदिक गूढ़वादियों का रहस्य था। बाह्य यज्ञ के प्रतीकों को संपूर्ण जगत् के ''गुह्यों'' की ही भाँति एक आंतरिक अर्थ प्रदान किया गया है; वे मनुष्य के अंदर देवताओं के आह्वान, एक संबंध जोड़ने वाले यज्ञ, एक घनिष्ठ आदान-प्रदान, पारस्परिक सहायता और अंतर्मिलन को सूचित करते हैं। मनुष्य के अंदर देवताओं की शक्तियों की प्रतिष्ठा होती है और उसके साथ ही दैवी प्रकृति की विश्वमयता का गठन भी। कारण, देवता सत्य के रक्षक और संवर्धक हैं, अमर भगवान् की शक्तियाँ हैं, अनंत माता-'अदिति' के पुत्र हैं; अमरता का मार्ग देवताओं का ऊर्ध्वमुख मार्ग है, 'सत्य' का मार्ग है, एक यात्रा एवं आरोहण है जिसके द्वारा सत्य के विधान, **ऋतस्य पंथाः** की ओर विकास होता है। मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता की ही नहीं बल्कि अपनी मानसिक और साधारण चैत्य प्रकृति की सीमाओं को लाँघकर और सत्य के उच्चतम स्तर एवं परम व्योम में पहुँचकर अमरत्व प्राप्त करता है : क्योंकि वहीं अमृतत्त्व का आधार और त्रिविध 'अनंत' का मूल धाम है। इन विचारों के आधार पर वैदिक तत्त्ववेत्ताओं ने एक गहन मनोवैज्ञानिक एवं आंतरात्मिक साधना का निर्माण किया जो अपने से परे एक उच्चतम आध्यात्मिकता की ओर ले जाती थी और जिसमें बाद के भारतीय योग का बीज निहित था। यहाँ हमें भारतीय आध्यात्मिकता के विशिष्टतम विचार अपने पूर्ण विस्तृत रूप में न सही, पर बीज रूप में प्राप्त होते हैं। एक एकमेव सत्ता, **एकं सत्** है जो व्यक्ति और जगत् के परे विश्वातीत है। एक परम देव है जो अपने देवत्व के अनेक रूप, नाम, शक्तियाँ और व्यक्तित्व हमारे समक्ष प्रदर्शित करता है। विद्या और अविद्या में एक विभेद है, मर्त्य जीवन के अत्यधिक असत्य या मिश्रित सत्यासत्य के विपरीत अमर जीवन का एक महत्तर सत्य है। मनुष्य के आंतरिक विकास के लिए एक साधना है जिसके द्वारा वह भौतिक जीवन से आरंभ कर आंतरात्मिक में से गुजरता हुआ आध्यात्मिक जीवन में विकसित हो सकता है। मृत्यु पर विजय, अमृतत्व का एक रहस्य और मानव आत्मा की उपलभ्य दिव्यता का एक बोध – यह सब भी है। एक ऐसे युग में जिसकी ओर हम अपने बाह्य ज्ञान के घमंड में मानवता के बचपन या, अधिक से अधिक, एक शक्तिशाली बर्बरता के युग के रूप में दृष्टि डालने के अभ्यासी हैं, यह एक अंतःप्रेरित और बोधिमूलक आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा थी जिसके द्वारा मानवजाति के प्राचीन पूर्वजों ने, **पूर्वे पितरः मनुष्याः** भारत में एक महान् एवं गंभीर सभ्यता की स्थापना की थी।

(घ) उपनिषद् - वेदान्त

आध्यात्मिकता का उच्च वैदिक प्रारम्भ अपने परिणाम में एक बड़े उदात्त प्रस्फुटन द्वारा सुरक्षित रखा गया था। उपनिषदों को भारत में सदा ही वेद का मुकुट एवं पर्यवसान माना जाता रहा है; उनके सर्व सामान्य नाम 'वेदान्त' से यही बात सूचित होती है। और सचमुच ही वे वैदिक साधना और अनुभूति का एक विशाल और सर्वोच्च परिणाम हैं। जिस युग में वेदांतिक सत्य का पूर्ण रूप से साक्षात्कार किया गया और उपनिषदों ने आकार ग्रहण

किया, वह असीम और श्रमसाध्य अन्वेषण का युग था, आत्मा का एक घनीभूत और प्रचंड बीज-काल था, जैसा कि हम छांदोग्य और बृहदारण्यक् आदि के अभिलेखों से देख सकते हैं। उस खोज का दबाव पड़ने पर दीक्षितों के हाथों में सुरक्षित पर साधारण आदमियों की पहुँच से परे गुप्त रखे हुए सत्यों ने अपनी दीवारें तोड़ डाली और राष्ट्र के उच्चतर मानस में से वेगपूर्वक प्रवाहित होकर भारतीय संस्कृति की भूमि को आध्यात्मिक चेतना और अनुभूति के अनवरत और सदा-वृद्धिशील विकास के लिए उर्वर बना दिया। परंतु यह प्रवृत्ति अभी सर्वजनीन नहीं हुई थी; मुख्य रूप से उच्चतर वर्णों के लोगों ने, वैदिक शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षा पाये हुए क्षत्रियों और ब्राह्मणों ने ही, जो बाह्य सत्य से तथा बाह्य यज्ञ के क्रिया-कलाप से अब और संतुष्ट नहीं थे; एकमेव का ज्ञान रखने वाले ऋषियों से सत्य प्रकाश के अनुभव के उच्चतम 'शब्द' को जानने का सर्वत्र यत्न आरंभ किया। परंतु जिन लोगों ने ज्ञान प्राप्त किया और महान् गुरु बने उनमें हम नीच या संदिग्ध जन्मवाले लोगों को भी पाते हैं, जैसे कि जनश्रुति जो एक धनाढ्य शूद्र था और सत्यकाम जाबालि जो एक दासी का पुत्र था और जिसे यह भी पता नहीं था कि उसका गोत्र क्या है, उसके पिता का गोत्र क्या है। इस काल में जो काम किया गया वह आगे के युगों में भारतीय आध्यात्मिकता की एक सुदृढ़ आधार-शिला बन गया और उससे आज भी शाश्वत और अमोघ अन्तःप्रेरणा के जीवनदायी स्रोत फूटते हैं। इसी युग ने, इसी प्रवृत्ति एवं इसी महान् उपलब्धि ने भारतीय सभ्यता का विकास और अन्य संस्कृतियों की सर्वथा भिन्न दिशा — इन दोनों के समग्र भेद को जन्म दिया।

कारण, एक ऐसा समय आया जब मूल वैदिक प्रतीकों का तात्पर्य अनिवार्य रूप से लुप्त हो गया एवं एक ऐसे अंधकार में विलीन हो गया जो पीछे दुर्भेद्य बन गया, जैसा कि अन्य देशों में भी 'गुह्य विद्याओं' की आंतरिक शिक्षा का हाल हुआ। संस्कृति का जो प्राचीन संतुलन दो छोरों के बीच अवस्थित था और जिसमें संतुलन-रेखा के एक ओर तो बाह्य भौतिक मनुष्य की अनगढ़ या अनगढ़ी प्राकृतिकता थी और दूसरी ओर दीक्षितों के लिए आभ्यंतरिक एवं रहस्यमय आंतरात्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन था, जिन्हें मिलाने के लिए धार्मिक पूजाविधि एवं प्रतीकवाद सेतु का काम करता था, वह अब हमारी आध्यात्मिक उन्नति के आधार के रूप में पहले की तरह पर्याप्त नहीं हो सकता था। मानवजाति को अपनी सभ्यता के क्रमविकास में एक सुदीर्घ प्रगति की आवश्यकता थी; वह एक अधिकाधिक व्यापक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक विकास की अपेक्षा करती थी जो उसे प्रकाश की ओर बढ़ने में सहायता दे सके। अन्य देशों की भाँति भारत में भी यह परिवर्तन आना आवश्यक था। परंतु भय यह था कि जो महत्तर आध्यात्मिक सत्य पहले प्राप्त हो चुका था वह कहीं तीव्र पर प्रकाशहीन बुद्धि के हीनतर स्व-विश्वासी अधूरे प्रकाश में खो न जाए अथवा स्व-पर्याप्त तार्किक बुद्धि की तंग सीमाओं के भीतर उसका दम न घुट जाए। पश्चिम में सचमुच यही हुआ और उनमें यूनान सबसे आगे था। पाइथागोरस एवं

स्टोहक के अनुयायियों ने तथा प्लेटो और नये प्लेटोवादियों ने पुराने ज्ञान को कम अनुप्रेरित, कम क्रियाशील और अधिक बौद्धिक रूप में बनाए रखा; परंतु उन सबके होते हुए भी और जो महज अर्द्ध-आलोकित आध्यात्मिक लहर एशिया से उठकर, पूरी तरह न समझी गई ईसाइयत के रूप में, युरोप भर में तीव्र वेग से फैल गई, उसके होते हुए भी पश्चिमी सभ्यता की समस्त वास्तविक प्रवृत्ति बौद्धिक, तार्किक, लौकिक और यहाँ तक कि जड़वादी तक रही है और वह आज तक भी ऐसी ही है। इसका सर्व सामान्य लक्ष्य बौद्धिक रंग में रंगे नीतिशास्त्र, सौंदर्य-विज्ञान और तर्क के बलपर प्राणप्रधान एवं देहप्रधान मनुष्य की सबल या सुंदर संस्कृति का निर्माण करना रहा है, न कि हमारे निम्नतर अंगों को आत्मा की परम ज्योति और शक्ति की ओर ऊपर ले जाना। भारत में उपनिषद्युग के महत् प्रयास ने प्राचीन अध्यात्म-ज्ञान और उससे उत्पन्न आध्यात्मिक प्रवृत्ति की इस पतन से रक्षा की और वेदांतिक ऋषियों ने वैदिक सत्य को उसके गूढ़ प्रतीकों से पृथक् करके और अंतर्ज्ञात तथा अंतरनुभव की अत्यंत उच्च और अत्यंत स्पष्ट एवं शक्तिशाली भाषा में ढालकर उसे नया रूप प्रदान किया। वह बुद्धि की भाषा नहीं थी, पर फिर भी उसका एक ऐसा रूप था जिसे बुद्धि अपने अधिकार में करके अपनी अधिक साधारण परिभाषाओं में परिणत कर सकती थी और जिसे वह नित विस्तृत और गहरे होने वाले दार्शनिक चिंतन के लिए तथा मूल और चरम-परम सत्य के विषय में तर्क बुद्धि की सुदीर्घ खोज के लिए आंरभ-बिंदु बना सकती थी। पश्चिम की तरह भारत में भी एक उच्च विशाल एवं जटिल बौद्धिक, सौंदर्यात्मक, नैतिक और सामाजिक संस्कृति का महान् निर्माण हुआ था। परंतु युरोप में उसे उसके अपने ही साधन-वैभव पर छोड़ दिया गया और अस्पष्ट धार्मिक भावावेग तथा मत-सिद्धांत ने उसकी सहायता करने की अपेक्षा कहीं अधिक उसका विरोध ही किया, जब कि भारत में आध्यात्मिकता की एक महान् रक्षक शक्ति ने और ज्ञान के उच्चतम गगन से आने वाली विशाल, प्रेरक और उदार ज्ञान-रश्मियों ने उसका मार्गदर्शन किया, उसे ऊँचा उठाया और अपने बल और ज्योति से अधिकाधिक संचारित एवं आप्लावित किए रखा।

२. उत्तर वैदिक युग या पुराण-तांत्रिक अवस्था

भारतीय सभ्यता के द्वितीय या उत्तर-वैदिक युग की विशेषताएँ थीं – महान् दर्शनों का उदय; प्रचुर, प्राणवंत, अनेक-विचार-संपन्न, बहुमुखी काव्य-साहित्य का निर्माण, कला और विज्ञान का सूत्रपात, ऊर्जस्वी और जटिल समाज का विकास, बड़े-बड़े राज्यों और साम्राज्यों की रचना, सब प्रकार की विविध रचनात्मक प्रवृत्तियाँ और जीवन तथा चिंतन की महान् प्रणालियाँ। यूनान, रोम, फारस और चीन आदि अन्य स्थानों की तरह ही यहाँ भी यह उस बुद्धि के महान् विस्फोट का युग था जो जीवन तथा मानसिक विषयों पर उनके मूल कारण तथा उनकी समुचित प्रणाली को ढूँढने और मानव-जीवन की व्यापक एवं श्रेष्ठ पूर्णता को प्रकट करने के लिए कार्य कर रही थी। परंतु भारत में इस प्रयत्न ने आध्यात्मिक उद्देश्य को

कभी भी दृष्टि से ओझल नहीं किया, वह धार्मिक भाव का स्पर्श पाने से कभी नहीं चूका। यह जिज्ञासाशील बुद्धि के जन्म और यौवन का काल था और यूनान की भाँति यहाँ भी दर्शन वह मुख्य साधन था जिसके द्वारा इस बुद्धि ने जीवन और जगत् की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की। विज्ञान का भी विकास हुआ पर उसका स्थान गौण ही रहा, वह एक सहायक शक्ति के रूप में ही आया। भारतीय मनीषा ने गंभीर और सूक्ष्म दर्शनों के ही द्वारा बुद्धि और तार्किक शक्ति की सहायता से उन विषयों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया जिन्हें पहले अंतर्ज्ञान और आत्मानुभव के द्वारा कहीं अधिक जीवंत शक्ति के साथ प्राप्त किया जा चुका था। परंतु दार्शनिक मन उन स्वीकृत सत्यों को लेकर चला जिन्हें इन प्रबलतर शक्तियों ने खोज निकाला था और वह अपने उद्‌गमभूत प्रकाश के प्रति सच्चा रहा; वह सदा फिर-फिर किसी-न-किसी रूप में उपनिषदों के गंभीर सत्यों की ओर पुनः गया जिन्होंने इन विषयों में उच्चतम प्रमाण-ग्रंथ के रूप में अपना स्थान सुरक्षित रखा था। यह बराबर ही माना जाता रहा कि आध्यात्मिक अनुभव एक महत्तर वस्तु है और इसका प्रकाश तर्कशील बुद्धि की स्पष्टताओं की अपेक्षा अधिक अज्ञेय होने पर भी अधिक सच्चा मार्गदर्शक है।

भारतीय मन और भारतीय जीवन की अन्य सब प्रवृत्तियों पर भी इसी सर्वोपरि शक्ति का प्रभुत्व रहा। यहाँ का महाकाव्य-साहित्य एक सबल और स्वतंत्र बौद्धिक एवं नैतिक विचारधारा से अत्यधिक परिपूर्ण है, उसमें प्रज्ञा और नैतिक बुद्धि के द्वारा जीवन की अनवरत समीक्षा की गई है, सभी संभव क्षेत्रों में सत्य का आदर्श स्थिर करने का आकर्षक कुतूहल, एक प्रबल आग्रह और कामना दिखायी देती है। परंतु पृष्ठभूमि में एक अटूट धार्मिक भावना और साथ ही आध्यात्मिक सत्यों की असंदिग्ध या प्रकट स्वीकृति भी देखने में आती है जो पुनः-पुनः सामने की ओर आती रही तथा भारतीय संस्कृति का एक अडिग आधार बनी रही। इन आध्यात्मिक सत्यों ने लौकिक विचार और कर्म को अपने उच्चतर प्रकाश से परिप्लावित कर दिया अथवा ये ऊपर स्थित होकर उन्हें स्मरण दिलाते रहे कि वे किसी लक्ष्य के सोपान मात्र हैं। भारतीय कला ने, प्रचलित धारणा के विपरीत, जीवन का अत्यधिक चित्रण किया; किंतु फिर भी उसकी सर्वोच्च सफलता सदैव धर्म्य-दार्शनिक मन की व्याख्या के क्षेत्र में ही दिखाई दी, उसकी संपूर्ण शैली आध्यात्मिक एवं अनंत के संकेतों से रंगी रहती थी। भारतीय समाज ने अपूर्व संगठन-शक्ति, स्थाई प्रभावशालिता और क्रियात्मक अंतर्दृष्टि के साथ अपने अर्थ और कामना वाले सांसारिक जीवन के सामाजिक सामंजस्य का विकास किया; उसने अपने कर्म का परिचालन सदा-सर्वदा और पद-पद पर नैतिक और धार्मिक विधान अर्थात् 'धर्म' के निर्देश के अनुसार किया : परंतु इस बात को उसने कभी आँखों से ओझल नहीं किया कि आध्यात्मिक मोक्ष ही हमारे जीवन के प्रयास का उच्चतम शिखर और अंतिम लक्ष्य है। बाद के युग में जब बौद्धिक संस्कृति की ऐहिक प्रवृत्ति ने और अधिक जोर पकड़ा, लौकिक बुद्धि की अपरिमित प्रगति हुई, राजनैतिक और

सामाजिक विकास बहुत अधिक हुआ; तब सौंदर्यात्मक, ऐंद्रियक और सुखवादी अनुभव पर अत्यधिक बल दिया गया। परंतु इस प्रयास ने भी अपने को प्राचीन चौखटे के अंदर रखने और भारत के सांस्कृतिक विचार की विशेष छाप को न गँवाने की बराबर ही चेष्टा की। ऐहिक प्रवृत्ति के बढ़ने से जो क्षति हुई उसकी पूर्ति चैत्य धार्मिक अनुभव की तीव्रताओं को और भी गंभीर करके की गई। नए धर्मों, गुह्य अनुष्ठानों एवं साधनाओं ने मनुष्य की अंतरात्मा और बुद्धि को ही नहीं बल्कि उसके हृद्भावों और इंद्रियों को तथा उसकी प्राणिक और सौंदर्यग्राही प्रकृति को भी अपने अधिकार में करने तथा आध्यात्मिक जीवन का उपादान बनाने का यत्न किया। जीवन के ऐश्वर्य-वैभव, शक्ति-सामर्थ्य और सुखभोग पर बल देने में की गई प्रत्येक अति की प्रतिक्रिया हुई और तब एक उच्चतर मार्ग के रूप में आध्यात्मिक वैराग्य पर सुखभोग के समान ही प्रभावपूर्ण बल देकर उस अति को संतुलित किया गया। दोनों प्रवृत्तियाँ, एक ओर तो जीवनानुभव की समृद्धि की पराकाष्ठा, दूसरी ओर अध्यात्म जीवन की पराकाष्ठा एवं शुद्ध कठोर तीव्रता, परस्पर ताल मिलाकर चलती थीं; उनकी पारस्परिक क्रिया — प्राचीनतर गंभीर सामंजस्य एवं विशाल समन्वय की चाहे कैसी भी हानि क्यों न हुई हो — उनके दोहरे आकर्षण के द्वारा भारतीय संस्कृति के संतुलन की कुछ अंश में रक्षा करती रही।

भारतीय धर्म ने इस विकास धारा का अनुसरण किया और अपने वैदिक तथा वैदांतिक उद्गमों के साथ अपनी आंतरिक अविच्छिन्नता को सुरक्षित रखा; परन्तु अपने अन्दर की मानसिक सामग्रियों और रंग-रूप को तथा अपने बाह्य आधार को उसने पूर्ण रूप से परिवर्तित कर डाला। यह परिवर्तन उसने किसी विरोधात्मक विद्रोह या विप्लव के द्वारा या आक्रमणकारी सुधार के किसी विचार के द्वारा संपन्न नहीं किया।... निःसंदेह एक समय ऐसा लगा मानों पुरानी चीजों के भंग होने की और एक तीव्र नये आरंभ की आवश्यकता है और ऐसा होगा भी। लगता था कि बौद्ध धर्म ने वैदिक धर्म के साथ संपूर्ण आध्यात्मिक संसर्ग का त्याग कर दिया है। परंतु अंततः यह संबंध विच्छेद ऊपर से दिखने में ही अधिक था, वास्तव में उतना था नहीं: निर्वाण-विषयक बौद्ध आदर्श वेदांत के उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव के एक तीव्र-निषेधात्मक एवं ऐकांतिक वर्णन के सिवा और कुछ नहीं था। मुक्ति के मार्ग के रूप में गृहीत बौद्धों की 'अष्टांग-पथ' की जो नैतिक प्रणाली थी वह अमरत्व के मार्ग, **'ऋतस्य पंथाः'** के रूप में अनुसृत सत्य, ऋत् और धर्म-विषयक वैदिक विचार का कठोर उदात्तीकरण थी।... बौद्ध धर्म अपने मूल के वैदिक होने का दावा सहज में ही कर सकता था और इसका वह दावा सांख्य-दर्शन एवं साधनाभ्यास के, जिसके साथ कुछ बातों में इसका घनिष्ठ ऐक्य था, मूल की वैदिकता से कम प्रामाणिक न होता। परंतु जिस चीज ने बौद्ध धर्म को हानि पहुँचाई और जो, अंत में, इसके त्याग दिये जाने का निश्चयात्मक कारण बनी वह वेद को मूल या प्रामाणिक स्रोत मानने से इसका इन्कार करना नहीं थी बल्कि इसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्थापनाओं का एकतरफा तीखापन थी।

स्पष्ट और कठोर तार्किक चिंतन पर आधारित एक तीव्र आध्यात्मिक जिज्ञासा के द्वारा ही इसका एक पृथक् धर्म के रूप में जन्म हुआ था; इस प्रकार, अध्यात्म भावित मन के साथ तार्किक बुद्धि के सम्मिलन के तीव्र दबाव का परिणाम होने के कारण इसकी तीक्ष्ण स्थापनाओं और उनसे भी अधिक ऐकांतिक निषेधों को भारतीय धार्मिक चेतना की स्वाभाविक नमनशीलता, बहुमुखी ग्रहण-सामर्थ्य और समृद्ध-समन्वयात्मक प्रवृति के साथ पर्याप्त रूप से संगत नहीं बनाया जा सकता था। यह एक उच्च मत अवश्य था पर लोगों के हृदयों पर अधिकार जमाने के लिए काफी नमनीय नहीं था। भारतीय धर्म बौद्ध-धर्म का जितना अंश आत्मसात् कर सकता था उतना उसने आत्मसात् कर लिया, पर इसकी एकपक्षीय स्थापनाओं को उसने त्याग दिया और, प्राचीन वेदांत की ओर मुड़कर अपनी अविच्छिन्नता की संपूर्ण परंपरा को सुरक्षित रखा।

परिवर्तन की यह स्थाई धारा मूलतत्त्व के किसी प्रकार के विनाश के द्वारा नहीं बल्कि प्रमुख वैदिक रूपों के क्रमिक ह्रास तथा उसके स्थान पर दूसरों के आविर्भाव के द्वारा अग्रसर हुई।... वैदिक देवताओं का गंभीर मूल अर्थ शीघ्र ही विलुप्त हो गया। आरंभ में उन्होंने अपने बाह्य वैश्वीय अर्थ के द्वारा अपना आधिपत्य बनाए रखा किंतु ब्रह्मा-विष्णु-शिव की महान् त्रिमूर्ति ने उन्हें आच्छादित कर दिया, और पीछे तो वे बिल्कुल ही लुप्त हो गए। एक नया देव-समूह प्रकट हुआ जो अपने बाह्य प्रतीकात्मक रूपों में धार्मिक अनुभव के एक गंभीरतर सत्य एवं विस्तृततर क्षेत्र को, एक तीव्रतर अनुभूति एवं विशालतर भावना को प्रकट करता था। वैदिक यज्ञ केवल टूटे-फूटे खंडों के रूप में ही शेष रह गया जो उत्तरोत्तर कम होते गए। अग्नि-कुंड का स्थान मंदिर ने ले लिया; यज्ञ के कर्मकांड मंदिर में की जाने वाली भक्ति की क्रिया-पद्धति में रूपांतरित हो गए; मंत्रों में वैदिक देवताओं के जो अनिश्चित और परिवर्तनीय मानसिक रूप चित्रित हैं उन्होंने अपना स्थान दो महान् देवताओं, विष्णु और शिव के तथा उनकी शक्तियों एवं शाखा-प्रशाखाओं के अधिक सुनिश्चित धारणात्मक रूपों को दे दिया। इन नई धारणाओं ;ब्वदबमचजेद्ध को भौतिक प्रतिमूर्तियों का स्थिर रूप देकर आंतरिक आराधना के लिए तथा यज्ञ का स्थान लेने वाली बाह्य पूजा के लिए आधार बना दिया गया। आंतरात्मिक और आध्यात्मिक गुह्य प्रयास, जो वेद के सूक्तों का आंतरिक मर्म था, पौराणिक और तांत्रिक धर्म और योग के कम तीव्रता से प्रकाशमय पर अधिक विशाल, समृद्ध एवं गहन चैत्य-आध्यात्मिक अंतर्जीवन में विलीन हो गया।

धर्म की पौराण-तांत्रिक अवस्था को एक समय युरोपीय आलोचकों और भारतीय सुधारकों ने प्राचीनतर एवं शुद्धतर धर्म का हीन और अज्ञानपूर्ण पतन कहकर निंदित ठहराया था। पर सच पूछो तो यह लोगों के सामान्य मन को आंतरिक सत्य और अनुभव तथा वेदों के उच्चतर एवं गंभीरतर क्षेत्र की ओर खोलने का एक प्रयत्न था जो बहुत अंश में सफल भी हुआ। किसी समय जो विरोधी आलोचना सुनने में आती थी उसमें से

अधिकांश का कारण इस पूजा के आशय और उद्देश्य को बिल्कुल न जानना ही था। इस आलोचना का अधिकतर भाग व्यर्थ में उन पगडंडियों और पथ-भ्रष्टताओं पर ही केंद्रित रहा है जिनसे बचना संस्कृति के आधार को विस्तृत करने के इस अतीव साहसपूर्ण परीक्षण में शायद संभव ही नहीं था। क्योंकि, इसमें सब प्रकार के मनों को तथा सब वर्गों के लोगों को आध्यात्मिक सत्य की ओर आकृष्ट करने का एक उदार प्रयत्न था। वैदिक ऋषियों के गहन आंतरात्मिक ज्ञान का बहुत-सा भाग लुप्त हो गया, परंतु बहुत-से नये ज्ञान का विकास भी हुआ, कितने ही ऐसे मार्ग खुल गए जिन पर किसी के भी पैर नहीं पड़े थे और साथ ही अनंत में प्रवेश करने के सैंकड़ों द्वार ज्ञात हो गए।

इस नये परिवर्तन से किसी भी मुख्य वस्तु के मूल स्वरूप में तनिक भी हेर-फेर नहीं हुई; परंतु करणोंपकरणों तथा वातावरण में और धार्मिक अनुभव के क्षेत्र में पर्याप्त परिवर्तन आया। वैदिक-देवता अपने भक्त-समुदाय के निकट ऐसी दिव्य शक्तियाँ थे जो स्थूल जगत् के बाह्य जीवन की कार्यावलि के ऊपर अधिष्ठान करती थीं; पौराणिक त्रिमूर्ति जनसाधारण के लिए भी प्रधान रूप से एक मनो-धार्मिक और आध्यात्मिक अर्थ रखती थी। इसका अधिक बाह्य अर्थ, उदाहरण के लिए, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कार्य इन गहराइयों का, मात्र जो इसके रहस्य के अंतस्तल को छूती थीं, एक गौण सिरामात्र थे। केंद्रीय आध्यात्मिक सत्य दोनों प्रणालियों में एक ही रहा, और वह है अनेक रूपों में अभिव्यक्त 'एकमेव' का सत्य। त्रिमूर्ति एक ही परम देव एवं ब्रह्म का त्रिविध रूप है; सभी शक्तियाँ उच्चतम भागवत सत्ता की एक ही शक्ति की अंशभूत शक्तियाँ हैं। परंतु यह महत्तम धार्मिक सत्य, केवल कुछ दीक्षितों के लिए ही सुरक्षित नहीं रह गया; बल्कि अब तो लोगों के सामान्य मन और हृदय में इसे प्रबल, विस्तृत और तीव्र रूप में अधिकाधिक जमा दिया गया। वैदिक विचार का अंग माने जाने वाले तथाकथित एकेश्वरवाद (Henotheism) को भी विष्णु या शिव की अधिक व्यापक और सरल पूजा के रूप में विस्तारित और उन्नत किया गया; विष्णु या शिव को एक ऐसा विराट् और सर्वोच्च देवता मानकर पूजा जाने लगा जिसके कि अन्य सब देवता जीवंत रूप और शक्तियाँ हैं। मनुष्य के अंदर भगवान् के विराजमान होने के विचार को असाधारण रूप में प्रचारित किया गया, केवल इस विचार को ही नहीं कि भगवान् कभी-कभी मानवता में प्रकट होते हैं, जिसने कि अवतारों की पूजा की स्थापना की, वरन् इस विचार को भी कि प्रत्येक प्राणी के हृदय में उनकी उपस्थिति को ढूँढा जा सकता है। इसी एक सामान्य आधार पर योग की प्रणालियाँ भी विकसित हुईं। वे सभी अनेक प्रकार की मनोभौतिक, अंतःप्राणिक, अंतर्मानसिक और चैत्य-आध्यात्मिक विधियों के द्वारा समस्त भारतीय आध्यात्मिकता के सर्व-सामान्य लक्ष्य की ओर ले जाती थीं या ले जाने की आशा करती थीं और वह लक्ष्य था एक महत्तर चेतना की तथा एकमेव और भगवान् के साथ न्यूनाधिक पूर्ण एकत्व की प्राप्ति या फिर व्यष्टि-जीवन का निरपेक्ष ब्रह्म में निमज्जन। पौराण-तांत्रिक प्रणाली एक विशाल, सुनिश्चित

और बहुमुख प्रयास थी, जो अपनी शक्ति, अंतर्दृष्टि और विस्तार में अतुलनीय थी; उसका उद्देश्य मानवजाति को एक ऐसे सामान्यीकृत मनोधार्मिक अनुभव का आधार प्रदान करना था जिससे मनुष्य ज्ञान, कर्म या प्रेम के द्वारा या अपनी प्रकृति की किसी अन्य मूलभूत शक्ति के द्वारा किसी सुस्थिर परम अनुभव एवं सर्वोच्च निरपेक्ष स्थिति तक ऊँचा उठ सके।

३. आध्यात्मिक जीवन का सामान्यीकरण – तीसरी अवस्था

पुराण-तांत्रिक अवस्था में वैदिक युग और बौद्धधर्म के पतन के बीच के कालखंड का समावेश होता है। इस अवस्था के दौरान जो महान् प्रयास तथा उपलब्धि हुई वह भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के उद्विकास की अन्तिम सम्भावना नहीं थी। पहली अवस्था ने भौतिक मानसिकता वाले बहिर्गामी मनुष्य को आध्यात्मिकता के लिए तैयार करने का कार्य निष्पन्न किया। दूसरी अवस्था में बहिर्गत जीवन को गहनतर मानसिक और चैत्य जीवन में प्रविष्ट किया गया और मनुष्य को उसके अपने भीतर की आत्मा और दिव्यता के अधिक प्रत्यक्ष सम्पर्क में लाया गया।

तीसरी अवस्था में उसे उसके अपने संपूर्ण मानसिक, आंतरात्मिक एवं भौतिक जीवन को एक व्यापक अध्यात्म-जीवन के कम-से-कम प्रथम आरंभ की ओर उठा ले जाने के योग्य बना देना चाहिये। यह प्रयास भारतीय आध्यात्मिकता के विकास में प्रकट हुआ है और बहुत पीछे जो दर्शनशास्त्र बने तथा संतों और भक्तों के महान् आध्यात्मिक आंदोलन हुए और योग के विविध मार्गों का अधिकाधिक अवलंबन किया गया उसका गूढ़ अर्थ भी यही है।... यदि भारतीय संस्कृति को जीवित रहना है और अपने आध्यात्मिक आधार तथा अपनी स्वभावगत विशेषता को सुरक्षित रखना है तो उसके विकास को केवल पौराणिक प्रणाली को फिर से जीवित या प्रचलित करने की दिशा में नहीं, बल्कि उपर्युक्त दिशा में ही मुड़ना होगा और इस प्रकार उस वस्तु की चरितार्थता की ओर उठना होगा जिसे सहस्रों वर्ष पहले वैदिक ऋषियों ने मनुष्य और उसके जीवन के लक्ष्य के रूप में देखा था।... भारतीय आध्यात्मिक मन की इस महत्तम गतिविधि के पीछे एक दोहरी प्रवृति काम कर रही है। उसका संकल्प मनुष्य-समाज को तथा सभी मनुष्यों को, प्रत्येक को अपनी सामर्थ्य के अनुसार, सर्वाधिक महान् प्रकाश में निवास करने और अपना संपूर्ण जीवन परमात्मा की किसी पूर्ण-अभिव्यक्त शक्ति एवं महान् ऊँचा उठाने वाले सत्य पर प्रतिष्ठित करने के लिए आह्वान करने की प्रवृत्ति रखता है। परंतु समय-समय पर उसे एक उच्चतम अंतर्दर्शन भी प्राप्त हुआ है जो सनातन की ओर आरोहण की ही नहीं बल्कि भगवच्चेतना के अवरोहण तथा मानव-प्रकृति के दिव्य प्रकृति में रूपांतर की भी संभावना का साक्षात्कार करता है। मनुष्य के अंदर गुप्त रूप में विद्यमान देवत्व की अनुभूति इसकी सर्वोच्च शक्ति रही है। यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो युरोपीय धार्मिक सुधारक अथवा उसका अनुकरण करने वालों के विचारों में या उनकी भाषा में ठीक तरह से समझ में नहीं आ सकती। यह वह चीज नहीं

है जिसकी कल्पना शुद्धता का अत्यधिक ध्यान रखने वाला बुद्धिवादी या अध्यात्मवादी करता है और उस अत्यंत उतावली कल्पना के द्वारा अपने प्रयत्न में असफल रहता है। इसकी निर्देशक दृष्टि एक ऐसे सत्य की ओर अंगुलि-निर्देश कर रही है जो मानव-मन की पहुँच से परे है और यदि वह उसकी सत्ता के अंगों में जरा भी चरितार्थ हो जाए तो वह मानव-जीवन को एक दिव्य अति-जीवन में परिणत कर देगा। और जब तक आध्यात्मिक विकास की यह तीसरी विशालतम गति अपना वास्तविक स्वरूप नहीं प्राप्त कर लेती तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय सभ्यता अपना मिशन पूरा कर चुकी है, अपना अंतिम संदेश दे चुकी है, और मनुष्य के जीवन तथा आत्मा के बीच मध्यस्थता करने के अपने कार्य को सफलतापूर्वक संपन्न करके कर्त्तव्यभार से मुक्त हो गई है।

युरोपीय विद्वानों ने हमारे वेद में एक पुराकालीन आदिम पशुचारी जाति द्वारा प्रकृति की शक्तियों के सम्मान में गाये गए असभ्य गीत ही देखे और अनेक लोगों के लिए मंत्रों के महत्व के संबंध में उनका मत निर्णायक है। उनके लिए बाकी सभी व्याख्याएँ अंधविश्वासी हैं।... मेरे लिए यह अप्रासंगिक है कि वेद के संबंध में क्या मैक्स मूलर सोचता है और क्या सायण सोचता है। मैं तो उसकी बजाय यह जानना चाहूँगा कि वेद को स्वयं अपने संबंध में क्या कहना है और क्या उसमें अज्ञात अथवा अनंत पर पड़ने वाला कोई प्रकाश है, जिस की किरण का तब तक अनुसरण किया जा सके जब तक कि मैं प्रत्यक्ष उसके आमने-सामने नहीं आ जाता जिसे वह प्रकाशित करता है।

युरोप ने वेद और वेदांत के संबंध में कुछ विचार बना लिए हैं और उन्हें भारतीय प्रज्ञा पर आरोपित करने में वह सफल भी हो गया है।... जब सौ विश्व-विख्यात विद्वान एक साथ चिल्लाकर कहते हैं कि, 'यह ऐसा है,' तो एक औसत मस्तिष्क के लिए, और औसत से ऊपर मस्तिष्कों के लिए भी जो इन विशेष विषयों के विशेषज्ञ न हों, सहमत न होना वास्तव में कठिन हो जाता है।...

फिर भी एक समय ऐसा अवश्य आएगा जब भारतीय मस्तिष्क उस अंधकार को उतार फेंकेगा जो उस पर पड़ा हुआ है, दूसरे और तीसरे हाथों सोचना या विचार ग्रहण करना बंद करेगा और अपने ही धर्मग्रंथों के अर्थ के संबंध में पूरी स्वतंत्रता के साथ छानबीन करने और निर्णय लेने के अपने अधिकार पर फिर से दावा करेगा।

जब यह दिन आएगा तो, मैं समझता हूँ, हम यह पाएँगे कि पश्चिम के वैदिक सिद्धांत का शानदार तानाबाना उससे अधिक पुष्ट अथवा सत्य वस्तु पर आधारित नहीं है जितना शिथिलता से एकत्र किये गए अनुमानों का आधार होता है। हम अनेक भाषा वैज्ञानिक कल्पित कथाओं पर प्रश्न करेंगे जो स्थापित की गई हैं, – उदाहरणार्थ यह कल्पित गाथा कि उत्तर से आर्यों ने भारत पर आक्रमण कर उस पर कब्जा किया, आर्यों और द्रविड़ों के बीच बनावटी और शत्रुता का भेदभाव, जिसे भारतीय अफगानी जाति की समरूपी एकता के बीच एक भ्रामक भाषा विज्ञान ने थोपी गई पच्चर की भाँति डाला है।

आर्य और द्रविड़ भाषाओं में मैं आर्य और द्रविड़ जातियों को अलग और असंबद्ध परिवार नहीं बल्कि एक ही जाति की दो शाखाएँ पाता हूँ। वैदिक काल में आर्यों के आक्रमण और पंजाब में बसने की गाथा को मैं एक भाषावैज्ञानिक कल्पित कथा मानता हूँ।

मैं यह मानता हूँ कि वेदों में ऐसा ज्ञान है जिसे न तो मध्यकालीन भारत और न ही आधुनिक युरोप ग्रहण कर पाये हैं, किंतु जो पहले के वेदांत विचारकों को बिल्कुल स्पष्ट था। मैक्स मूलर ने वेद मंत्रों से एक चीज समझी, सायण ने दूसरी; यास्क की उनके पुरातन कथनों की अपनी अलग ही व्याख्याएँ थीं; पर इनमें से किसी ने भी वह नहीं समझा जो याज्ञवल्क्य और अजातशत्रु ने समझा।... इसलिए कि चूंकि हम वेदों को नहीं समझते, हमारे लिए उपनिषदों का तीन चौथाई भाग मोहरबंद पुस्तक जैसा है।

धार्मिक आंदोलन और क्रांतियाँ आए और चले गए या अपना चिन्ह छोड़ गए पर सब के अंत में और सब में से वेद हमारे लिए युगों की चट्टान, हमारा सनातन आधार बने रहे।... उपनिषद्, यद्यपि वे भी महान् हैं, तो भी वे केवल वेदों में निहित सनातन ज्ञान को ही प्रकाशित करने का प्रयास करते हैं, बाद के विचारों की भाषा में दार्शनिक रूप से उसे व्यवस्थित करते हैं और उसे 'ब्रह्मन्' के उत्कृष्ट नाम से प्रतिष्ठित करते हैं। फिर भी कम से कम दो हजार वर्षों से किसी भी भारतीय ने वस्तुतः वेदों को समझा ही नहीं है।

वेद हमारे आध्यात्मिक ज्ञान के प्रारंभ थे; वही उसके अंत भी रहेंगे। अज्ञात पुराकाल की ये रचनाएँ ज्ञान की सनातन जननी के अनेक स्तन जैसे हैं जिनसे हमारी बाद में आने वाली सभी पीढ़ियाँ पोषित हुई हैं।... इसलिए वेद के पूर्ण सत्य की पुनः प्राप्ति... मानवजाति के भविष्य के लिए एक व्यावहारिक आवश्यकता है। क्योंकि मैं दृढ़तापूर्वक यह मानता हूँ कि वेद में छिपा हुआ रहस्य जब पूरी तरह उद्घाटित हो जाएगा तब वह एक दिव्य जीवन के ज्ञान और अभ्यास का पूर्णता के साथ निर्माण करता हुआ पाया जाएगा, जिसकी ओर मानवता के कदमों को, बुद्धि और इंद्रियों की संतुष्टि में लंबे भटकाव के पश्चात् अनिवार्य रूप से पुनः लौटना होगा।

प्राचीन सभ्यताओं के कब्जे में विज्ञान के रहस्य थे जिनमें से कुछ को आधुनिक ज्ञान ने पुनः प्राप्त करके उन्हें बढ़ा लिया है, अधिक समृद्ध और सुस्पष्ट बना लिया है किंतु अन्य दूसरे अभी भी ऐसे हैं जिन्हें प्राप्त नहीं किया जा सका है। इसलिए दयानंद की इस धारणा में ऐसी कोई अजीब बात नहीं है कि वेद में विज्ञान का तथ्य भी है और धर्म का भी। इसमें मैं अपना विश्वास भी जोड़ना चाहूँगा कि वेद में विज्ञान के अन्य ऐसे तथ्य हैं जो आधुनिक जगत् के पास किंचित भी नहीं हैं और उस स्थिति में दयानंद ने वैदिक प्रज्ञा की गहराई और विस्तार के विषय में अत्युक्ति नहीं न्यूनोक्ति ही की है।

भारत की महानता का प्रथम युग एक आध्यात्मिक युग था जब वह उत्साहपूर्वक अन्तर्स्फूर्णात्मक मन से तथा मानसिक एवं भौतिक दोनों जगतों के आन्तरिक अनुभव एवं व्याख्या द्वारा जीवन के सत्य की खोज करता था। अपने शुरुआती दौर की वह छाप उसने कभी नहीं खोई, वरन् राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक सोपान पर हमेशा उस छाप को नूतन आध्यात्मिक अनुभवों तथा खोजों से समृद्ध बनाया। यहाँ तक कि पतनोन्मुखी होने के समय भी यह एक ऐसी चीज थी जिसे उसने नहीं खोया।

भारतीय महानता का दूसरा सुदीर्घ युग था एक बौद्धिकता का युग, नैतिक बोध का युग तथा भागवत सत्य के प्रकाश में जीवन को सुनियोजित व शासित करने के लिए कार्यों में एक प्रकाशमान ओजस्वी संकल्प शक्ति का युग। आत्मा के युग के बाद आया धर्म का युग; वेदों और उपनिषदों के बाद आई कर्म तथा सामाजिक निर्माण, प्रतीकों के निर्माण तथा विचार एवं दर्शन की ओजस्वी शताब्दियाँ। तब भारतीय जीवन व सभ्यता के बाहरी रूपों की बृहत्तर रूपरेखा निर्धारित की गई और उनकी आनेवाली विकास की अवस्थाओं का बीजरूप में निर्धारण किया गया।

संस्कृत सभ्यता का महान् शास्त्रीय (classical) युग इस बौद्धिकता के प्रस्फुटन का परिणाम था जिसमें पाण्डित्य, विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति, समाजशास्त्र तथा दैनिक जीवन इन सब की जिज्ञासापूर्वक व सूक्ष्मता से विस्तृत परिष्कृति की गई। इस काल में हमें न केवल सौंदर्यबोध बल्कि भावनात्मक व इन्द्रियजन्य और यहाँ तक कि प्राणिक एवं भोग-विलासिता के अनुभवों का भी गहराई से परिमापन दिखाई देता है। लेकिन प्राचीन आध्यात्मिकता इन सब मानसिक एवं प्राणिक क्रिया-कलापों के पीछे प्रभावशाली रही, और इसके बाद के उत्तर-शास्त्रीय युग में हमने निम्न जीवन को आत्मा के मूल्यों से प्रभावित होकर उच्च बनते देखा है। यही पौराणिक व तांत्रिक पद्धतियों का तथा भक्ति प्रधान धर्मों का अर्थ था।

भारत और उसकी संस्कृति की महानता

भारत राष्ट्रों का गुरु है, मानव आत्मा का उसके अधिक गंभीर रोगों में चिकित्सक है; उसके भाग्य में एक बार फिर विश्व के जीवन को नये साँचे में ढालना लिखा है।...

१. भारतीय संस्कृति की भूतकालीन रचनाएँ एवं उपलब्धियाँ

भला किस क्षेत्र में भारत ने प्रयास, उपलब्धि एवं सृजन नहीं किया है, और सभी में एक विस्तृत परिमाण में, ब्यौरे की पूर्णता की ओर अत्यधिक ध्यान देते हुए ? उसकी आध्यात्मिक और दार्शनिक उपलब्धि के विषय में तो असल में कोई सवाल ही नहीं उठ सकता। वे यहाँ उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार, कालिदास के शब्दों में, हिमालय इस भूतल पर ''पृथ्वी के मानदंड के रूप में अवस्थित है, ''**पृथिव्या इव मानदण्डः**'' वे आजतक भी स्वर्ग और पृथ्वी के बीच मध्यस्थता करती हैं; सीमित को नापती, अपने मापक यंत्र को अनंत के अंदर दूर तक फेंकती हैं, अपने छोरों को अतिचेतन और प्रच्छन्नचेतन सत्ता, आध्यात्मिक और प्राकृत सत्ता के ऊर्ध्व और निम्न समुद्रों में निमज्जित करती हैं। परंतु, यदि उसके दर्शनशास्त्र, उसके धार्मिक साधनाभ्यास, उसके अनेकानेक महान् आध्यात्मिक व्यक्ति, विचारक, संस्थापक और संत उसकी महत्तम गरिमा हैं, – जैसा कि उसकी प्रकृति और प्रधान भावना के लिए स्वाभाविक ही था, – तो भी ये चीजें उसकी एकमात्र गरिमा कदापि नहीं हैं और न इनकी उत्कृष्टता के कारण अन्य चीजें क्षुद्र ही हो जाती हैं। यह अब सिद्ध हो चुका है कि वर्तमान युग से पहले उसने विज्ञान में अन्य किसी भी देश की अपेक्षा अधिक प्रगति की थी, और यहाँ तक कि युरोप अपने भौतिक विज्ञान के आरंभ के लिए यूनान के समान ही भारत का भी ऋणी है, यद्यपि सीधे तौर पर नहीं पर अरबों के माध्यम के द्वारा। और चाहे उसने अन्य देशों के समान ही प्रगति की होती तो भी एक प्राचीन संस्कृति में यह एक प्रबल बौद्धिक जीवन का पर्याप्त प्रमाण होता। विशेषकर, प्राचीन विज्ञान के मुख्य अंगों, गणित, ज्योतिष और रसायन में उसने अत्यधिक तथा सम्यक् रूप से खोज की ओर सिद्धांत स्थिर किये तथा तर्क या परीक्षण के बल पर कुछ एक वैज्ञानिक विचारों और आविष्कारों की भविष्यवाणी की जिन पर युरोप पहले-पहल बहुत देर बाद ही पहुँचा, पर जिन्हें वह अपनी नई और पूर्णतर विधि के द्वारा एक अधिक दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुआ। शल्यतंत्र में वह करणोंपकरणों से सुसंपन्न था और उसकी चिकित्सा-पद्धति आज भी जीवित है तथा अभी तक अपना महत्त्व बनाए हुए है, यद्यपि बीच में इसमें ज्ञान का ह्रास हो गया था और केवल वर्तमान समय में ही यह अपनी जीवनी-शक्ति को फिर से प्राप्त कर रही है।

साहित्य में, मन-बुद्धि के जीवन में, भारत ने महान् रूप में जीवनयापन और सृजन किया। इतना ही नहीं कि उसके पास वेद, उपनिषद् और गीता हैं, – इस क्षेत्र की उन अपेक्षाकृत कम महान् पर फिर भी ओजस्वी या मनोरम कृतियों की हम चर्चा नहीं करते जो धार्मिक और दार्शनिक काव्य के अतुलनीय स्मारक हैं, और जिनकी कोटि की कोई भी

बड़ी और विशेष मूल्यवान रचना करने में युरोप कभी भी समर्थ नहीं हुआ है, अपितु उसके पास वह बृहत् राष्ट्रीय कृति, महाभारत, भी है जो अपनी परिधि में काव्य साहित्य को संगृहीत करता है और एक सुदीर्घ निर्माणकारी युग के जीवन को इतनी पूर्णता से अभिव्यक्त करता है कि एक प्रसिद्ध उक्ति में, जिसमें एक अति उपयुक्त सुभाषित की अतिरंजना के साथ-साथ कुछ औचित्य भी है, इसके संबंध में यह कहा गया है कि ''जो कुछ इस भारत (महाभारत) में नहीं है वह भारतवर्ष में भी नहीं है'', और इसके अतिरिक्त उसके पास रामायण भी है जो अपने ढंग की सर्वाधिक महान् और विलक्षण कविता है, वह नैतिक आदर्शवाद और वीरतापूर्ण अर्द्ध-दिव्य मानव-जीवन का अत्यंत उदात्त और सुन्दर महाकाव्य है, अपितु उसके पास अतीव सुसंस्कृत विचार, ऐन्द्रिय उपभोग, कल्पना, कर्म और साहसिक कार्य के काव्य और रोमांस की आश्चर्यजनक समृद्धि, पूर्णता और चमक भी है जो उसके अत्युत्कृष्ट युग के रोमांस-साहित्य का गठन करती है। और न सृजन का यह सुदीर्घ अनवरत उत्साह संस्कृत भाषा की जीवनी-शक्ति के नष्ट होने के साथ ही समाप्त हो गया, बल्कि उसकी अन्य भाषाओं में, पहले तो पाली और प्राकृत, — दुर्भाग्यवश वह बहुत कुछ लुप्त हो गई है, — तथा तमिल में और आगे चलकर हिंदी, बंगाली, मराठी एवं अन्य भाषाओं में महान् या सुन्दर कृतियों का पुंज तैयार करने में वैसा ही उत्साह बना रहा और कार्य करता रहा। भारत की स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला और चित्रकारी की सुदीर्घ परंपरा, तूफानी सदियों के समस्त विध्वंस के बाद जो कुछ बचा है उसमें भी, अपनी कहानी आप ही कह रही है : पश्चिमी सौंदर्य-विज्ञान का संकीर्णतर संप्रदाय उसके विषय में कोई भी सम्मति क्यों न स्थिर करे, — और कम-से-कम उसकी कार्यान्विति तथा कारीगरी की सूक्ष्मता से तथा भारतीय मन को अभिव्यक्त करने की उसकी क्षमता से इंकार नहीं किया जा सकता, — फिर भी वह कम-से-कम एक अनवरत सृजन-संबंधी क्रियाशीलता की साक्षी है। और सृजन जीवन का प्रमाण है और महान् सृजन जीवन की महानता का।

परंतु यह कहा जा सकता है कि ये सब चीजें मन की हैं, और भारत की बुद्धि, कल्पना शक्ति और सौंदर्य प्रिय मन सृजनशील रूप से सक्रिय रहे होंगे पर फिर भी उसका बाह्य जीवन तो उत्साहहीन, निस्तेज, दीन-हीन, वैराग्य के रंगों से धूमिल, संकल्पबल और व्यक्तित्व से शून्य, निष्प्रभावी और निष्फल ही रहा। इस उक्ति को गले के नीचे उतारना कठिन होगा; क्योंकि, साहित्य, कला और विज्ञान जीवन की शून्यता में नहीं फलते-फूलते। पर यहाँ भी तथ्य क्या हैं ? भारत में केवल महान् संतों, ऋषियों, विचारकों, धर्मसंस्थापकों, कवियों, सृष्टाओं, वैज्ञानिकों, पंडितों, विधिवेत्ताओं की ही लंबी तालिका नहीं रही है; उसने महान् शासक, व्यवस्थापक, सैनिक, विजेता, महारथी, प्रबल, सक्रिय संकल्प, योजनाकुशल मन और रचनाकारी दृष्टृ-शक्ति से संपन्न व्यक्ति भी हुए हैं। उसने लड़ाइयाँ लड़ी हैं और शासन भी किया है, व्यापार किया है, उपनिवेश बसाये और अपनी सभ्यता का प्रसार किया है, शासन-पद्धतियों का निर्माण किया और जातियों तथा समाजों का संगठन किया है, वह

सब कुछ किया है जो कि महान् जातियों की बाह्य कर्मशीलता की अभिव्यक्ति है। कोई भी राष्ट्र कर्म के उसी क्षेत्र में अपने अत्यंत सजीव आदर्श व्यक्तियों को आविर्भूत करने की प्रवृत्ति रखता है जो उसके स्वभाव के अत्यंत अनुकूल हो और उसके प्रमुख विचार को प्रकट करता हो, और भारत में महान् संत तथा धार्मिक पुरुष ही मूर्धन्य पद पर अवस्थित रहे हैं तथा महानता की अत्यंत हृदयस्पर्शी और अविच्छिन्न नाम-परंपरा को प्रस्तुत करते आये हैं, जैसे कि रोम अपने योद्धाओं, राजनीतिज्ञों और शासकों के द्वारा ही सबसे अधिक जीवित रहा। प्राचीन भारत में ऋषि सर्वप्रमुख व्यक्ति होता था जिसके ठीक पीछे योद्धा का स्थान था जब कि बाद के युग की सबसे अधिक ज्वलंत विशेषता है – बुद्ध और महावीर से लेकर रामानुज, चैतन्य, नानक, रामदास और तुकाराम तक और इनसे भी आगे रामकृष्ण, विवेकानंद और दयानंद तक आध्यात्मिक पुरुषों की ही एक लंबी अविच्छिन्न शृंखला। पर साथ ही, प्रामाणिक इतिहास की प्रथम उषा से लेकर जो चंद्रगुप्त, चाणक्य, अशोक एवं गुप्तवंशी सम्राटों के प्रभावशाली व्यक्तित्वों से आरंभ होती है और मध्य युग के अनेकानेक, प्रसिद्ध हिंदू और मुस्लिम व्यक्तित्वों में से होती हुई बिल्कुल आधुनिक युग तक पहुँचती है, राजनीतिज्ञों और शासकों के रूप में भी अद्‌भुत सफलताएँ प्राप्त हुई हैं। प्राचीन भारत में गणतंत्रों, अल्प-जन-राज्यों, जनतंत्रों तथा छोटे-छोटे राज्यों का जीवन था जिनका कोई भी ऐतिहासिक ब्यौरा अब शेष नहीं है; उनके बाद हम देखते हैं साम्राज्य-निर्माण का दीर्घकालीन प्रयत्न, सीलोन और समुद्री द्वीपसमूहों का उपनिवेशीकरण, पठान और मुगल राजवंशों के उत्थान और पतन से संलग्न तीव्र संघर्ष, दक्षिण में जीवित रहने के लिए हिंदुओं का संघर्ष, राजपूती वीरता का आश्चर्यजनक अभिलेख ;तमबवतकद्ध, महाराष्ट्र में समाज के निम्नतम स्तरों तक व्यापी हुई राष्ट्रीय जीवन की भारी उथल-पुथल, सिक्खों के खालसा संप्रदाय की विलक्षण गाथा। उस बाह्य जीवन का यथोचित चित्रण करना अभी बाकी है; एक बार चित्रित कर दिये जाने पर वह अनेक मिथ्या कल्पनाओं का अंत कर देगा। यह सब विपुल कार्य-कलाप किन्हीं ऐसे आदमियों के द्वारा नहीं संपन्न किया गया था जो बुद्धि, संकल्प और जीवन शक्ति से रहित थे, मानवता की ऐसी निस्तेज छायाओं के द्वारा नहीं किया गया था जिनमें ऊर्जस्वी मनुष्यत्व को विषादमय और सर्व-विनाशक वैराग्यवाद के बोझ के नीचे कुचल डाला गया हो, न ही यह स्वप्नविलासियों की एक ऐसी जाति का चिह्न प्रतीत होता है जिसकी मनोवृत्ति दार्शनिक हो और जो जीवन तथा कर्म का विरोध करती हो। वे कोई घास-फूसके पुतले या निर्जीव एवं संकल्पशून्य मिट्टी के घरौंदे या निःशक्त स्वप्नविलासी नहीं थे जिन्होंने इस प्रकार कर्म किया, योजनाएँ बनाईं, विजयें प्राप्त कीं, प्रशासन की महान् प्रणालियों का निर्माण किया, राज्य और साम्राज्य स्थापित किये, काव्य, कला और स्थापत्य के महान् संरक्षकों के रूप में विख्यात हुए अथवा आगे चलकर, वीरता के साथ विजातीय राज्य सत्ता का सामना किया और जाति या राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए युद्ध किया। और न वह कोई जीवनरहित राष्ट्र ही था जिसने अपनी सत्ता और संस्कृति

को सुरक्षित रखा और अब तक जीवित बना रहा तथा निरंतर विरोधी परिस्थितियों के नित बढ़ते हुए दबाव के होते हुए भी सर्वदा नया-नया जीवन प्राप्त करता रहा। भारत का वर्तमान धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक पुनरुज्जीवन जिसे अब कभी-कभी नवजागरण कहा जाता है और जो उसके आलोचकों के मन को बहुत व्याकुल और व्यथित करता है, परिवर्तित अवस्थाओं में, उपयुक्त रूप में, अभी तक कम स्पष्ट पर महत्तर क्रिया समूह में, उसी चीज की पुनरावृत्ति मात्र है जो भारतीय इतिहास में एक सहस्र वर्ष तक पुनः पुनः घटित होती रही है।

२. प्राचीन भारतीय भाव की चार शक्तियाँ

प्राचीन भारतीय भाव की चार शक्तियाँ ये हैं : (क) आध्यात्मिकता (ख) विलक्षण प्राण शक्ति (ग) शक्तिशाली बौद्धिकता (घ) पराकाष्ठा का परिमापन और मन व जीवन का समन्वयात्मक आवेग।

(क) आध्यात्मिकता

वस्तुतः आध्यात्मिकता भारतीय मन की मास्टर-कुञ्जी है और अनन्त का भाव उसमें जन्मजात है। भारत ने शुरु से ही यह देखा – और अपने बौद्धिक जीवन और बढ़ते हुए अज्ञान के काल में भी उसने कभी अपनी इस आंतरिक दृष्टि को नहीं खोया – कि जीवन को केवल बाहरी प्रकाश में पूरी तरह से देखा नहीं जा सकता, केवल उसके बाहरी भाव की शक्ति में उसे पूरी तरह से जिया नहीं जा सकता। भारत को भौतिक विधानों और शक्तियों की महानता का परिचय था; भौतिक विज्ञानों के महत्व के लिए उसके पास तीव्र दृष्टि थी; वह सामान्य जीवन की कलाओं को संगठित करना जानता था, लेकिन उसने देखा कि अतिभौतिक के साथ उचित संबंध के बिना भौतिक को अपना पूरा अर्थ नहीं प्राप्त होता। उसने देखा कि विश्व की जटिलता की मानव की वर्तमान भाषा में व्याख्या नहीं की जा सकती या मनुष्य की बाहरी दृष्टि उसे नहीं देख सकती, कि पीछे और भी शक्तियाँ हैं, कि स्वयं मनुष्य के अंदर ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके बारे में वह अनभिज्ञ है, कि वह अपने एक बहुत छोटे अंश से परिचित है और दृश्य को अदृश्य घेरे रहता है, अतिसंवेदनशीलता संवेदनशील को घेरे रहती है, उसी तरह जैसे अनंतता हमेशा सीमित को घेरे रहती है। भारत ने यह भी देखा कि मनुष्य के अंदर अपना अतिक्रमण करने की क्षमता है, अपने स्वरूप को अधिक पूर्ण एवं गंभीर बनाने की क्षमता है – ये सत्य युरोप में अभी-अभी दिखाई देने लगे हैं और ये अभी भी उसकी सामान्य बुद्धि के लिए बहुत बड़े प्रतीत होते हैं। भारत ने मनुष्य के परे अनेकानेक देवों को देखा है और देवों के परे भगवान् को और स्वयं भगवान् के परे अपनी अमिट अनंतता को देखा है। उसने देखा कि हमारे जीवन के परे अनेक जीवन-स्तर हैं हमारे वर्तमान मन के परे अनेक मानस-स्तर हैं और इनके परे उसने आत्मा की अद्‌भुत भव्यताओं को देखा। फिर उसने अंतर्भास की उसी अचंचल उद्दंडता के साथ,

जो भय और तुच्छता से अपरिचित थी और जो किसी भी आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक, नैतिक या प्राणिक साहस-कार्य से पीछे नहीं हटती, उसने घोषणा की कि इनमें से कोई भी ऐसी चीज नहीं है जिसे मनुष्य अपने संकल्प और ज्ञान को प्रशिक्षित करके पा नहीं सकता; वह मन के इन क्षेत्रों को जीत सकता और आत्मा बन सकता है, देवता बन सकता है और भगवान् के साथ एक हो सकता है और अनिर्वचनीय ब्रह्म बन सकता है। और तार्किक क्रियात्मकता तथा विज्ञान के भाव और व्यवस्थित पद्धति के द्वारा, जो भारत की मानसिकता की विशेषताएँ थीं, उसने तुरंत मार्ग ढूँढना शुरु किया। इस प्रकार अंतर्दृष्टि और अभ्यास के लंबे युगों से उसकी गहराई में प्रविष्ट थी उसकी आध्यात्मिकता, उसकी सशक्त चैत्य वृत्ति, अनंत के साथ भिड़ने और उस पर अधिकार करने की बड़ी लालसा, उसका ऐसा धार्मिक भाव जिसका उन्मूलन न हो सके, उसके आदर्श, उसके भोग तथा कला और दर्शन का सतत् झुकाव।

(ख) विलक्षण प्राणशक्ति

जब हम भारत के अतीत पर नजर डालते हैं तो दूसरी चीज जो हमें सबसे महत्त्वपूर्ण लगती है वह है उसकी प्रचंड जीवनी-शक्ति, उसकी अक्षय प्राणशक्ति और जीवन का आनंद, उसकी लगभग अकल्पनीय उर्वर रचनात्मकता। वह कम-से-कम लगभग तीन हजार वर्षों से – बल्कि उससे भी अधिक से – लगातार अविराम प्रचुरता के साथ अनेक दिशाओं में अक्षय सृजन करता आया है – गणतंत्र और राज्य और साम्राज्य, दर्शन, सृष्टिशास्त्र और भौतिक विज्ञान और मत-मतांतरों और कलाओं, काव्यों, स्मारकों, महलों और मंदिरों, लोकनिर्माण के कार्यों, जातियों, समाजों और धार्मिक संस्थाओं, विधि-विधान, भौतिक विज्ञान, चैत्य विज्ञान, योग-पद्धतियों, राजनैतिक व्यवस्थाओं, प्रशासन, इहलोक और परलोक की कलाओं, वाणिज्य-व्यापार कौशल – यह सूची तो चलती ही चली जाती है और फिर हर एक के अंदर क्रियाओं का बाहुल्य है। वह सृजन करता ही चला जाता है, वह न तो संतुष्ट होता है, न थकता है और उसका अंत तो कभी नहीं आता, ऐसा लगता है कि न उसे विश्राम की आवश्यकता होती है न जड़ता की और न खाली रहने की... वह अपनी सीमाओं के बाहर भी विस्तार करता है; उसके जहाज महासागर पार करते हैं और उसकी संपदा का उत्तम अतिरेक छलककर जूडेआ और मिश्र और रोम पहुँचता है; उसके उपनिवेश उसकी कलाओं, उसके महाकाव्यों और उसके पंथों को आर्चीपैलेगो में प्रसारित कर देते है; उसके चिन्ह मैसोपोटामिया की रेतों में पाये जाते हैं; उसके धर्म चीन और जापान को जीत लेते हैं और पश्चिम की दिशा में फिलिस्तीन और एलेक्जेन्ड्रिया तक फैल जाते हैं, और उपनिषदों के स्वर तथा बौद्धों की उक्तियाँ ईसामसीह के ओठों पर पुनः गुंजरित हो उठती हैं। सर्वत्र, जैसी उसकी मिट्टी में, वैसी ही उसके कार्यों में भरपूर जीवन की ऊर्जा की अति-विपुलता है।... युरोप के आलोचकों की शिकायत है कि भारत के प्राचीन स्थापत्य में, शिल्प और कला में अभिव्यक्ति का संयम नहीं है, अपनी प्रचुरता को रोक रखने का कोई

प्रयास नहीं है, कहीं कोई खाली जगह नहीं छोड़ी गई है, और कि हर दरार को कच्ची धातु से पाट देने का प्रयास दिखायी देता है, कि चप्पा-चप्पा प्रचुरता और प्रगल्भता से अटा पड़ा है। ठीक है, चाहे उसे एक कमी कहा जाए अथवा नहीं, असल बात यह है कि यह भारतीय सांस्कृतिक जीवन की अति-प्रचुरता की तथा उसके भीतर लबालब भरे अनन्त की अपने आपको प्रचुरता के साथ और अनन्त रूपों में अभिव्यक्त करने की विवशता है। वह अपनी विपुलता में उदार है क्योंकि इसके अलावा और कुछ हो नहीं सकता क्योंकि उसके चप्पे-चप्पे को अनन्त ने जीवन और ऊर्जा के स्पन्दन से पूर रखा है क्योंकि वह अनन्त है।

(ग) शक्तिशाली बौद्धिकता

परंतु परम आध्यात्मिकता और ऊर्जा, जीवन के अंदर और सृजन की इस उर्वर प्रचुरता में ही उस सब की इतिश्री नहीं हो जाती जो भारत भूतकाल में रहा है। यह नील गगन की शुद्ध अनंतता के नीचे पेड़-पौधों की भ्रांत भव्यता नहीं है। इतनी संपदा उन अनभ्यस्त आँखों को ही गड़बड़ लगती है जिनको जीवन के समृद्ध रूपों में अतिरेक की प्रचुर अव्यवस्था, मनमौजी अनुशासनहीनता, स्पष्ट संतुलन और परिमाण की कमी दिखलायी देती है। प्राचीन भारतीय आत्मा की तीसरी शक्ति थी एक सबल बौद्धिकता जो एक ही साथ कठोर और समृद्ध, संतुलित और सूक्ष्म, शक्तिशाली और नाजुक, तत्त्व में अतिविशाल और विस्तार में विलक्षण थी। उसका मुख्य आवेग था व्यवस्था और क्रमबद्धता का, लेकिन ऐसी व्यवस्था जो आंतरिक विधान और वस्तुओं के सत्य की खोज पर आधारित थी और जो हमेशा कर्त्तव्यनिष्ठा की संभावना पर नजर रखती थी। भारत मुख्यतः धर्म और शास्त्र का देश रहा है। उसने प्रत्येक मानव या वैश्व क्रिया के आंतरिक सत्य और विधान और उसके धर्म की खोज की; इन्हें पाकर उसने तथ्य और जीवन के विधान में उन्हें विस्तृत रूप और व्यवस्था के ब्यौरेवार नियम में ढालने का प्रयास किया। उसका पहला काल आत्मा की खोज से ज्योतिर्मय था, दूसरे काल ने धर्म की खोज को पूरा किया और तीसरे ने पहली सरलतर शास्त्र की रचना का विस्तृत विवरण किया। परंतु इनमें से कोई भी ऐकांतिक न था। तीनों तत्त्व हमेशा उपस्थित रहते हैं।

इस तीसरे काल में समस्त जीवन का विज्ञान और कला में विचित्र विस्तरण होता है जो असामान्य अनुपात धारण कर लेता है। अशोक से लेकर मुस्लिम युग तक का बौद्धिक उत्पादन सचमुच आश्चर्यजनक है, जैसा कि आधुनिक काल के विद्वानों के दिये हुए विवरण से मालूम होता है और हमें याद रखना चाहिये कि विद्वानों ने, अभी तक जो कुछ छिपा पड़ा है उसके एक अंश को ही छुआ है और जो वर्तमान है, और वर्तमान में जो छुपा हुआ है वह जो कुछ लिखा या जाना गया था उसका एक क्षुद्र अंश ही है। आधुनिक विज्ञान की सुविधाओं और प्रिंटिंग प्रेस की उपलब्धता से पूर्व इस प्रकार के बौद्धिक श्रम और सक्रियता

का अन्य कोई उदाहरण इतिहास में उपलब्ध नहीं है। फिर भी अनुसंधान और उत्पादन और ब्यौरे की जिज्ञासा की वह समस्त राशि बिना इन सुविधाओं के एकत्र की गई और यह सब उस परिस्थिति में किया गया जब उनके पास अपनी स्मरण-शक्ति और नश्वर भोज-पत्रों के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं था। उसका छोटा-सा अंशमात्र है यह सारा बृहदाकार साहित्य जो केवल दर्शन, धर्मशास्त्र, योग, तर्कशास्त्र, साहित्यशास्त्र, व्याकरण, भाषा-विज्ञान, काव्य, नाटक, आयुर्वेद, ज्योतिष, भौतिक-विज्ञान तक ही सीमित न था, वह समस्त जीवन, राजनीति, समाजशास्त्र, चित्रकला से लेकर नृत्य तक, चौंसठ कलाओं तक जो भी चीज जीवन के लिए उपयोगी या मन के लिए रुचिकर हो, सबको अपने अंदर समाये हुए था — उदाहरण के लिए उसने हाथियों और घोड़ों के प्रशिक्षण तथा उनके प्रजनन जैसे तत्कालीन युग के व्यावहारिक ब्यौरों के पक्ष पर भी शास्त्र लिखे, जिनमें से प्रत्येक की अपनी कला, पारिभाषिक शब्दावलि और विस्तृत साहित्य था। महानतम से लेकर लघुतम या तात्कालिक महत्ता रखने वाले, अर्थात् सभी तरह के विषयों में उसने सर्वग्राही, प्रचुर, सूक्ष्म और पूर्ण बुद्धिमत्ता के साथ कार्य किया। एक तरफ उसके अंदर जीवन के प्रत्येक पहलू को ब्यौरे में तथा पूर्ण रूप से जानने, भोगने के लिए अतृप्त उत्सुकता है, दूसरी ओर एक सुव्यवस्थित आत्म-भाव है, मन की यह कामना है कि जीवन में समन्वित ज्ञान आए तथा जीवन को वह उचित लय-ताल के साथ जीए। अतः एक तरफ है भारत की आत्मा के रोम-रोम में बसी हुई अभिभूतकारी आध्यात्मिकता और साथ ही है जीवन में अथक प्राणिक सृजनात्मकता तथा जीवन के समस्त सौंदर्य के सार को पी जाने की ललक और इन दो छोरों के बीच है एक सशक्त, भेदक तथा श्रमसाध्य मेधाशक्ति जो तर्कसंगत, नैतिक तथा कलात्मक मन की उपज है। यह आध्यात्मिकता, यह प्राणिक सृजनात्मकता तथा मेधाशक्ति — ये तीनों ही समन्वित रूप में प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के ताने-बाने थे।

वास्तव में, इस प्रचुर प्राण-शक्ति तथा प्रचुर बौद्धिकता के बिना भारत कभी इतनी अधिक मात्रा में वह सब न कर पाता जो उसने अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के द्वारा किया। यह मानना बहुत बड़ी भूल है कि आध्यात्मिकता सबसे अच्छी तरह ऐसी निर्धन भूमि पर फल-फूल सकती है जहाँ जीवन को प्रायः अर्धमृत तथा विचार-शक्ति को निरुत्साहित तथा संत्रस्त कर दिया जाता है। इस तरह पनपी हुई आध्यात्मिकता दूषित, उत्तेजक तथा संकटपूर्ण प्रतिक्रियाओं के प्रति खुली होती है। वस्तुतः केवल तभी जब जाति ने समृद्धतम रूप में जीवन-यापन किया हो तथा गहनतम रूप में मनन-चिंतन किया हो तो आध्यात्मिकता अपनी ऊँचाइयों तथा गहराइयों को और अपने बहुआयामी तथा सतत विकास को प्राप्त कर सकती है.. आधुनिक युरोप में प्राणशक्ति के दीर्घ विस्फोट और बुद्धि की विस्मयकारी सक्रियता के बाद ही ऐसा हो सका है कि वहाँ वस्तुतः आध्यात्मिकता का उद्घाटन होना शुरू हुआ है। और इस बार वैसा नहीं हुआ है जैसा पहले हुआ था। पहले वहाँ जो आध्यात्मिकता प्रकट हुई थी वह जीवन की बीमारी के दुःखी उपचारक के रूप में

थी लेकिन इस बार विशाल और गम्भीर स्पष्टता की शुरुआत के आश्वासन के साथ यह उद्‌घाटन होना शुरू हुआ है।

(घ) पराकाष्ठा का परिमापन और मन व जीवन का समन्वयात्मक आवेग

युरोपीय दृष्टि को भारतीय आध्यात्मिक विचार में बौद्ध दर्शन के द्वारा जीवन के मायावादी नकार का जबर्दस्त आघात लगता है। लेकिन यह याद रखा जाना चाहिए कि यह मायावादी नकार भारतीय आध्यात्मिक विचार की दार्शनिक प्रकृति का एक पहलू भर है जिसने कि केवल पतन के काल ही में अतिशयोक्तिपूर्ण आयाम धारण किए थे। अपने आप में भी वह भारतीय मस्तिष्क की एक प्रवृत्ति विशेष की एक दिशा विशेष में गति का परिणाम भर था। भारतीय मस्तिष्क की यह प्रवृत्ति उसकी सभी गतिविधियों में सामान्य रूप से पाई जाती है। यह प्रवृत्ति है – प्रत्येक प्रयोजन, यहाँ तक कि प्रयोजन के हर एक विशेष भाव (यथा आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक, प्राणिक) का उसके चरम बिन्दु तक अनुसरण करना और उसकी चरम सम्भाव्यता की ओर इंगित करना। इसकी जन्मजात दिशा का एक अंश यह था कि हर चीज़ के भीतर न केवल उसके ब्यौरे की पूर्णता को, बल्कि उसकी अनन्त, उसकी निरपेक्ष, उसकी गम्भीरतम गहराई और उसकी सर्वोच्च पराकाष्ठा को ढूँढा जाए। इसे पता था कि एक 'परिष्कृत अतिरेक' के बिना हम उन सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकते जिनके द्वारा सामान्य मन की नीरस और मंद प्रकृति ज्ञान, विचार और अनुभव का विरोध करती है, और इस उपलब्धि के लिए उसके पास था असीम साहस और साथ ही एक सुनिश्चित कदम भी। इस प्रकार दार्शनिक विचार की हर धारा को, आध्यात्मिक अनुभव की हर दिशा को यह उसके चरम बिन्दू तक ले गया, और इसने उस चरम बिन्दु से समस्त सत्ता को देखना चाहा, ताकि यह जान सके कि इस प्रकार की दृष्टि इसे कौनसा सत्य और शक्ति प्रदान कर सकती है। इसने पूरी-की-पूरी दिव्य प्रकृति को जानने का प्रयत्न किया तथा प्रकृति से परे जो कुछ भी परम दिव्य हो सकता है उसे देखने के प्रयास में यह जितना ऊँचा देख सकता था उतना ऊँचा देखने का इसने प्रयास किया। जब इसने एक आध्यात्मिक नास्तिकता का निरूपण किया तब उसको यह उसकी सम्भव समझ की पराकाष्ठा तक ले गया। और जब यह भौतिकवादी नास्तिकता के निरूपण में प्रवृत्त हुआ तो इसने उसका निरूपण भी निष्कपट, साहसपूर्ण और निरावरण तरीके से तथा आदर्शवाद अथवा नीतिवाद को कोई भी रियायत दिए बिना किया, हालाँकि इसने यह कार्य अपनी अतृप्य बौद्धिक जिज्ञासा की मौज़ के रूप में चलते-चलते ही किया।

इस प्रवृति को हम सर्वत्र पाते हैं। भारतीय मानस के आदर्शों ने एक तरफ तो मनुष्य के स्वाग्रह, स्वाधीनता, प्रभुता तथा अधिकार-भावना की अपनी तृष्णा को खूब बढ़ावा दिया, तो दूसरी ओर उसने आत्म-विलोपन, दूसरों पर आश्रित तथा निर्भर रहने तथा आत्म-उत्सर्ग के भाव को भी अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचाया। जीवन में विलासिता के वैभव के आदर्श

तथा गरीबी की सादगी के आदर्श, दोनों को ही अपने-अपने क्षेत्रों के सुदूरतम बिंदु तक ले जाया गया – एक तरफ थी वैभव की चकाचौंध तो दूसरे छोर पर थी निर्धनता की नम्रता। उसकी अंतःप्रेरणाएँ इतने पर्याप्त रूप में स्पष्ट और साहसपूर्ण थीं कि उसे अपने चिरपोषित विचारों और जीवन के बँधे हुए अभ्यासों से अंधा होने का भय न था। अपनी सामाजिक व्यवस्था के प्रतीक के रूप में भारत को रूढ़िगत जातिप्रथा के साँचे में ढलने के लिए बाधित होना पड़ा, लेकिन वह इस बात को कभी न भूला – जैसी कि साधारणतः वर्ण-व्यवस्था की भावना में भूलने की प्रवृत्ति रहती ही है – कि मानव अंतरात्मा तथा मानव मन वर्ण-व्यवस्था अथवा जातिप्रथा से परे हैं क्योंकि भारतीय मानस ने निम्नतम मानव सत्ता में देवत्व अर्थात् नारायण के दर्शन किये थे। उसने जीवन में सभी विशेषताओं पर आग्रह किया किंतु घूम-फिरकर सभी विशेषताओं को नकारा। यद्यपि इसकी समस्त राजनैतिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों ने अन्ततोगत्वा इसे राजतंत्र के सिद्धान्त को अतिरंजित करने तथा राजा की दिव्यता की घोषणा करने और प्राचीन गणतंत्रात्मक नगर राज्यों और स्वतंत्र परिसंघों को केन्द्रविमुख प्रकृति के अति अनुकूल जानकर समाप्त करने को बाध्य किया और यद्यपि इसलिए यह प्रजातंत्र का विकास नहीं कर सका, फिर भी इसके पास प्रजातंत्र का विचार था, इसने इस विचार को गाँव में, नगरपरिषद् और नगरपालिका में, जाति में आजमाया, लोगों की दिव्यता के विचार पर सबसे पहले इसी ने जोर दिया और राजा को उस समय जोर देकर कहा जब वह अपनी शक्ति के चरम पर था, ''ओ राजा, तुम लोगों के एक नौकर से अधिक और क्या हो ?'' स्वर्णिम युग का इसका आदर्श एक आध्यात्मिक अराजकतावाद ही था। आध्यात्मिकता के प्रति इसका अतिरेकवादी रुझान इसे लम्बे समय तक विषयों और उनके आनन्दोपभोग के जीवन का अवगाहन करने से रोक नहीं सका, और वहाँ भी इसने इंद्रियगत अनुभवों की गहनताओं और तीव्रताओं को खोजा। फिर भी यह ध्यान देने योग्य है कि परस्पर विरोधी अतिरेकों की यह खोज कभी भी अराजक नहीं हुई। और इसके परम भोगवादी काल में भी ऐसा कुछ भी देखने में नहीं आता जिसकी तुलना उस बेलगाम भ्रष्टाचरण से की जा सके जिसको इसी प्रकार की प्रवृत्ति ने युरोप में बार-बार उपजाया है। क्योंकि भारतीय मन न केवल आध्यात्मिक और नैतिक ही है बल्कि बौद्धिक और कलात्मक भी है, और बुद्धि का शासन तथा सौंदर्य की लय दोनों ही अराजकता की भावना के बिल्कुल विरोध में हैं। भारतीय भाव हर अतिरेक में उस अतिरेक के विधान को तथा उसको चरितार्थ करने के लिए नियम, कसौटी और संरचना को खोजता है। इसके अतिरिक्त, अतिरेकों तक जाने की यह प्रवृत्ति एक अन्य अधिक स्वाभाविक विशेषता – समन्वय की प्रवृत्ति – के द्वारा संतुलित कर ली जाती है, ताकि हर प्रयोजन को उसकी सम्भाव्यता के सुदूरतम छोर तक खींच लेने के बाद भारतीय मस्तिष्क सदा ही अपने द्वारा अर्जित ज्ञान के किसी सम्मिश्रण और इसके परिणामस्वरूप अपने कार्य और अपनी संस्थाओं में संगति और संतुलन प्राप्त कर लेता है। संतुलन और लय, जिनको

यूनानी लोगों ने स्वसंकुचन के द्वारा प्राप्त किया, को भारत ने अपने मन और प्राण के समन्वयात्मक रुझान और अपनी बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यबोधात्मक व्यवस्था की भावना के द्वारा प्राप्त किया।

अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय सभ्यता एक ऐसी संस्कृति का बाह्य रूप एवं अभिव्यक्ति रही है जो मानवजाति की किसी भी ऐतिहासिक सभ्यता के समान ही महान् है, वह धर्म में महान् रही है, दर्शन में महान् रही है, विज्ञान में महान् रही है, अनेक प्रकार के चिंतन में महान् रही है, साहित्य, कला और काव्य में महान् रही है, समाज और राजनीति के संगठन में महान् रही है, शिल्प और व्यापार-व्यवसाय में महान् रही है। काले धब्बे, स्पष्ट त्रुटियाँ और भारी कमियाँ भी अवश्य रही हैं; भला ऐसी सभ्यता कौन-सी है जो सर्वांगपूर्ण रही हो, जिस पर गहरे कलंक न लगे हों, जिसमें निष्ठुर नरक न रहे हों? इसमें बड़े-बड़े छल-छिद्र और अनेक अंध गलियाँ रही हैं, बहुत-सी अपरिष्कृत या कुपरिष्कृत भूमि भी रही है; पर कौन-सी सभ्यता खाई-खंदकों एवं अभावात्मक पहलुओं से खाली रही है? तथापि हमारी प्राचीन सभ्यता प्राचीन युग या फिर मध्य युग की सभ्यताओं के साथ अत्यंत कठोर तुलना करने पर भी टिक सकती है। यूनानी सभ्यता से कहीं अधिक उच्चाकांक्षी, अधिक सूक्ष्म, बहुमुखी, अनुसंधानप्रिय और गंभीर, रोमन सभ्यता की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च और कोमल, पुरानी मिस्री सभ्यता से कहीं अधिक उदार और आध्यात्मिक, अन्य किसी भी एशियाई सभ्यता से कहीं अधिक विशाल और मौलिक, अठारहवीं सदी से पहले के युरोप की सभ्यता से कहीं अधिक बौद्धिक, इन सब सभ्यताओं में जो कुछ था उस सबकी तथा उससे भी अधिक की स्वामिनी यह भारतीय सभ्यता सभी अतीत मानव-संस्कृतियों से अधिक शक्तिशाली, आत्मस्थित, प्रेरणादायी और महाप्रतापशाली रही है।

....परंतु तब फिर भारत विश्व की पहली शक्ति क्यों नहीं बनता? उसके सिवाय विश्व पर आध्यात्मिक प्रभाव फैलाने का निर्विवाद अधिकार और किसको है? यह स्वामी विवेकानंद के अभियान की योजना थी। अपनी आध्यात्मिक महानता के वश में करने वाले भाव के द्वारा भारत को एक बार फिर से अपनी महानता का अहसास कराया जा सकता है। महानता का यह अहसास ही सारी देशभक्ति का प्रमुख पोषक है। केवल इसी से सारे आत्महास का अंत किया जा सकता है और खोए हुए आधार को पुनः पाने की ज्वलंत अभिलाषा उत्पन्न की जा सकती है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति मन, प्राण तथा शरीर के स्वास्थ्य, विकास तथा शक्ति पर बहुत बल देती थी, इसी को हम प्राचीन यूनानी अथवा आधुनिक वैज्ञानिक विचार में भी पाते हैं। अतः जो चीजें मन, प्राण तथा शरीर की सुरुचिपूर्ण पूर्णता में सहायक होती हैं उन्हें भारतीय संस्कृति खुलकर कार्य करने देती थी, तर्क-बुद्धि के क्रिया-कलापों, विज्ञान व दर्शन के लिए, सौंदर्यपरक सत्ता की संतुष्टि के लिए और सभी छोटी-बड़ी कलाओं, शरीर के स्वास्थ्य तथा शक्ति, जाति का भौतिक व आर्थिक कल्याण, सुविधा व प्रचुरता – निर्धनता कभी भी भारत में राष्ट्रीय आदर्श नहीं था जैसा कि कुछ लोग हमें विश्वास कराना चाहते हैं और न ही अभाव व मलिनता ही उसकी आध्यात्मिकता के लिए आवश्यक परिवेश थी – सामान्य सामरिक, राजनैतिक व सामाजिक शक्ति व कुशलता इत्यादि सभी का इसने पोषण किया। प्राचीन भारत के लोगों का लक्ष्य महान् था। साथ ही आधार स्थिर और विस्तृत भी था जिसपर उन्होंने इन सब पूर्व वर्णित साधनों को अत्यधिक जिम्मेदारी पूर्वक प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्न किया।

सचमुच भारत में कभी इन चीजों की अवहेलना नहीं की गई, जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं, और न ही कभी आध्यात्मिकता के सच्चे आधार को दृष्टि से ओझल होने दिया गया। प्राचीन भारत के लोगों के लक्ष्य महान् थे और साथ ही वे जिस आधार को प्रतिष्ठित करना चाहते थे वह स्थिर और विस्तृत भी था और उन्होंने इन आधारभूत साधनों की बहुत परवाह की।

भारत को फिर से अपनी गहनतम आत्मा की मौलिक शक्ति की ओर पूर्णतया मुड़ना होगा और अपने वर्तमान तथा भावी जीवन की समस्त वांछित शक्तियों और उद्देश्यों को उस आत्मा की कार्य-सामग्री में बदलना होगा ताकि वह उन पर अपने ढंग से कार्य करके उन्हें एकत्रित कर उनमें सामंजस्य स्थापित कर सके।

प्राचीन भारत का आत्मभाव अभिजात रहा था; इसका जीवन और चिन्तन एक महान्, उच्च एवं आत्म गौरवशाली उच्च चरित्रता और अपनी चरम सीमा तक पहुँची उदात्त कर्मठता के साँचे में गढ़ा हुआ था। यह अपनी चिन्तनशक्ति, क्रियाशीलता, चारित्रिक दृढ़ता, साहित्य सृजन और कला कौशल एवं धर्म में सम्पूर्ण रूप से सर्वश्रेष्ठ रहा है और इस सर्वश्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए सारी दुनिया भी यदि दाँव पर लगानी पड़े तो वह उस के लिए भी तैयार था, ऐसा था प्राचीन भारत का आत्मभाव।

भारतीय कला और संस्कृति

पश्चिमी मन रूप से आकृष्ट और आबद्ध हो जाता है, उसी पर रुका रहता है और उसके मोहक आकर्षण से परे नहीं जा सकता, उसके अपने सौंदर्य के लिए ही उससे प्रेम करता है, उसकी अत्यंत प्रत्यक्ष भाषा से सीधे ही जो भावमय, बौद्धिक और सौंदर्यात्मक सुझाव उत्पन्न होते हैं उन्हीं पर निर्भर रहता है, आत्मा को देह में कैद कर देता है। प्रायः यहाँ तक कहा जा सकता है कि इस मन के लिए रूप आत्मा की सृष्टि करता है, आत्मा अपनी सत्ता के लिए और उसे जो कुछ कहना होता है उस सबके लिए रूप पर निर्भर करती है।

इस विषय में भारतीय मनोभाव इस विचार के सर्वथा विपरीत है। भारतीय मन के लिए रूप आत्मा की एक सृष्टि के रूप में ही अस्तित्व रखता है, और किसी रूप में नहीं, और वह अपना समस्त अर्थ एवं मूल्य आत्मा से ही ग्रहण करता है।

प्रत्येक रेखा, आकार-प्रकार की व्यवस्था, रंग, आकृति, भंगिमा, प्रत्येक भौतिक संकेत, – वे चाहे अनेक, बहुल और समृद्ध ही क्यों न हों, – प्रथमतः और अंततः एक निर्देश एवं संकेत ही होता है, बहुधा वह एक ऐसा प्रतीक होता है जो अपने मुख्य व्यापार में एक आध्यात्मिक भावावेग, विचार और प्रतिमूर्ति का आधार होता है, वे भावावेग आदि फिर अपने से परे उस आत्मा के कम निरूपणीय, पर अधिक सबल रूप में गोचर सत्य की ओर जाते हैं जिसने सौंदर्यात्मक मन में इन गतिविधियों को उद्दीप्त किया है और इनके द्वारा अर्थपूर्ण आकारों में परिणत हो गया है।

भारत के चिंतनात्मक और सृजनशील मन की यह विशिष्ट वृत्ति इस बात को आवश्यक बना देती है कि इसकी कृतियों के विषय में विचार करते समय हम उन कृतियों से परे एकदम उस सत्य के आंतरिक मूल भाव तक पहुँचने का यत्न करें जिसे कि भारतीय मन अभिव्यक्त करता है और बाहर से नहीं बल्कि उसी सत्य पर से उन्हें देखने की कोशिश करें। और सच पूछो तो भौतिक ब्यौरों तथा उनके समन्वय से आरंभ करना मुझे भारतीय कलाकृति को देखने का बिल्कुल गलत तरीका मालूम होता है।

१. भारतीय वास्तुकला

भारतीय वास्तुकला इस प्रकार के आंतरिक अध्ययन और अपने गंभीरतम अर्थ के साथ इस आध्यात्मिक तादात्म्य की विशेष रूप से माँग करती है और इसके बिना वह अपने-आपको हमारे सम्मुख प्रकट ही नहीं करेगी।

भारत के प्राचीन युग के भवन, उसके राजमहल, सभा भवन और नागरिकों की अट्टालिकाएँ काल की संहार-लीला से बच नहीं सकी हैं; हमारे सामने जो कुछ बचा हुआ है वह अधिकांश में महान् पर्वतीय और कंदरागत मंदिरों का या फिर उसके मैदानों में बसे प्राचीन शहरों के मंदिरों का कुछ अंश है, और इसके अतिरिक्त हमारे सामने उसके बाद के समय के जब कि मंदिर ही जीवन का केंद्र था, कुछ प्रार्थनागृह और देवमंदिर भी हैं, चाहे वे श्रीरंगम् और रामेश्वरम् जैसे मंदिर-प्रधान नगरों और तीर्थस्थानों में स्थित हों या उसके मदुरा जैसे महान्, किसी समय के राजकीय नगरों में स्थित हों।

इस प्रकार एक पवित्र कला का अत्यंत पवित्र पहलू ही हमारे सामने बच रहा है। ये पवित्र भवन एक प्राचीन आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कृति के चिह्न हैं, स्थापत्य के द्वारा उसकी आत्म-अभिव्यक्ति हैं। यदि हम प्रतीकों और संकेतों के आध्यात्मिक निर्देश और धार्मिक महत्त्व की एवं उनके आशय की उपेक्षा करें और केवल तार्किक एवं लौकिक सौंदर्यात्मक मन के द्वारा देखें तो यह आशा करना व्यर्थ है कि हम इस कला के किसी सच्चे और सूक्ष्मदर्शी मूल्यांकन तक पहुँच सकेंगे।

भारतीय पवित्र वास्तु कृति, वह चाहे किसी भी समय और शैली की क्यों न हो या किसी के भी निमित्त उत्सर्ग क्यों न की गई हो, पीछे की तरफ किसी ऐसी वस्तु की ओर जाती है जो अनादि रूप से प्राचीन है और जो आज भारत से बाहर प्रायः पूर्ण रूप से विलुप्त हो चुकी है, किसी ऐसी वस्तु की ओर जाती है जो अतीत से संबंध रखती है, और फिर भी वह आगे की ओर बढ़ती है, यद्यपि तर्कवादी मन इस बात को सहज में नहीं स्वीकार करेगा, आगे वह किसी ऐसी वस्तु की ओर जाती है जो हम पर फिर लौटकर आएगी और लौटना आरंभ भी कर चुकी है, किसी ऐसी वस्तु की ओर जाती है जो भविष्य से संबंध रखती है।

भारतीय मंदिर, वह चाहे किसी भी देवता के निमित्त बनाया जाए, अपने अंतरतम सत्य-स्वरूप में भागवत पुरुष के निमित्त प्रतिष्ठित एक वेदी है, वह विश्वात्मा का घर है, अनंत के प्रति एक आह्वान और अभीप्सा है। सर्वप्रथम उसे इसी रूप में और इस दृष्टि एवं परिकल्पना के प्रकाश में ही समझना होगा, और अन्य प्रत्येक वस्तु को भी इसी योजना और इसी प्रकाश में देखना होगा, केवल तभी हमें इस विषय में कोई सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

कोई भी कलात्मक आँख, चाहे वह कैसी भी सजग और बोधक्षम क्यों न हो, कोई भी सौंदर्यलक्षी मन चाहे वह कैसा भी परिपक्व और संवेदनशील क्यों न हो इस ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता, यदि वह तर्कसंगत सौंदर्य की यूनानी रंग में रंगी धारणा के प्रति आसक्त हो अथवा स्थूल या बौद्धिक व्याख्या में अपने-आपको कैद कर ले और विश्व-चेतना के किसी स्पर्श, महत्तर आध्यात्मिक स्वरूप के किसी साक्षात्कार, अनंत के किसी निर्देश के प्रति एक सजातीय घनिष्ठ प्रत्युत्तर के द्वारा अपने-आपको भारतीय वास्तु-कृति में अभिप्रेत महान् वस्तुओं की ओर खोलने में सफल न हो।

२. भारतीय मूर्तिकला

भारत का प्राचीनतर मूर्तिशिल्प उसी चीज को दृश्यमान रूप में मूर्तिमान करता है जिसे उपनिषदों ने अंतःप्रेरित विचार के रूप में व्यक्त किया था और महाभारत तथा रामायण ने जीवन के अंदर शब्द के द्वारा अंकित किया था।

भारतीय गृह-शिल्प के समान यह मूर्तिशिल्प भी आध्यात्मिक अनुभूति से उद्‌भूत होता है, और अपने महत्तम रूप में यह जिस चीज का सृजन एवं अभिव्यंजन करता है वह है रूप के अंदर विराजमान आत्मा, देह में स्थित अंतरात्मा, दिव्य या मानव सत्ता में विद्यमान कोई-न-कोई जीवंत आत्म-शक्ति, वैश्व एवं विराट् सत्ता जो संकेत में वैयक्तिक रूप तो धारण कर लेती है पर उस व्यक्ति-भाव में खो नहीं जाती, निर्व्यक्तिक सत्ता जो व्यक्तित्व की अत्यंत आग्रहपूर्ण क्रीड़ा को धारण नहीं करती, सनातन के स्थाई क्षण, अपने कार्यों और रचनाओं में आत्मा की उपस्थिति, भावना, शक्ति और उसका शांत या शक्तिशाली आनंद।

फिडियस (Phidias) के ओलिम्पस-पर्वतवासी ग्रीक देवता विशालीकृत और उन्नीत मानव सत्ताएँ ही हैं जिन्हें निर्व्यक्तिकता की एक प्रकार की दिव्य शांति या विश्वभावापन्न गुण, दिव्य लक्षण के द्वारा अत्यंत मानवीय सीमा से रक्षित किया गया है; अन्य कृतियों में हम मानव आकृति की आदर्शीकृत सुन्दरता के रूप में वीरों, मल्ल-योद्धाओं, सौंदर्य के नारी-रूप अवतारों, विचार, कार्य या भावावेग की शांत एवं संयत मूर्तियों को देखते हैं।

भारतीय कला के देवता वैश्व सत्ताएँ हैं, किसी महान् आध्यात्मिक शक्ति, आध्यात्मिक विचार और क्रिया एवं अंतरतम चैत्य अर्थ के साकार रूप हैं, मानवीय रूप तो इस आंतरात्मिक अर्थ का वाहन, इसकी आत्म-अभिव्यक्ति का बाह्य साधन है; आकृतियुक्त प्रत्येक वस्तु को, उस के द्वारा दिये हुए प्रत्येक सुयोग को, मुख, हाथ, अंगों की मुद्रा, देह की समतोलता और विविध भंगिमा का...

...प्रत्येक सहायक वस्तु को आंतरिक अर्थ से अनुप्राणित करना होगा, इसे प्रकट करने में सहायक बनना होगा, संपूर्ण संकेत के लयताल का निर्वाह करना होगा, और दूसरी ओर ऐसी हर एक चीज को दबा देना होगा जो इस उद्देश्य को विफल करे, विशेषकर उन सब चीजों को दबा देना होगा जिनका अभिप्राय मानवीय आकृति के महज प्राणिक या भौतिक, बाह्य या प्रत्यक्ष संकेतों पर ही आग्रह करना हो। इस प्रकार की रचना का उद्देश्य आदर्श भौतिक या भाव संबंधी सौंदर्य नहीं बल्कि वह परम आध्यात्मिक सौंदर्य या रहस्यार्थ है जिसे मानव आकृति व्यक्त करने में समर्थ हो।

भारतीय मूर्तिकला, सामान्य रूप से भारत की समस्त कला अपने निजी आदर्श और अपनी निजी परंपराओं का अनुसरण करती है और ये अपने गुण और स्वरूप में अद्वितीय हैं। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो सृजन की अनेक शताब्दियों और युगों में बराबर ही, कुल मिलाकर महान् रही है और अपने सर्वोत्कृष्ट काल में परमोच्च भी, चाहे वह विरली, प्राचीन, अशोक से पहले के समय की कृति के रूप में हो या अशोक के समय की या उससे पीछे की प्रथम वीर-युग की कृति के रूप में अथवा...

...गुहा-मंदिरों और पल्लव-युगीय तथा अन्य दक्षिणी मंदिरों की भव्य मूर्तियों के या बाद की सदियों में बंगाल, नेपाल और जावा की श्रेष्ठ, सर्वांगपूर्ण या श्री-सुषमामय कल्पनाओं के या दक्षिणी धर्मों की काँसे की रचनाओं की अपूर्व कुशलता और सुन्दरता के रूप में; वह एक महान् जाति एवं महान् संस्कृति की भावना और आदर्शों की आत्म-अभिव्यक्ति है – ऐसी जाति की जो अपने मन और गुणों की बनावट में भूतल की जातियों के बीच अपना पृथक् अस्तित्व रखती है, जो अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि, अपने गहरे दर्शनों और अपनी धार्मिक भावना, कलात्मक रुचि, तथा काव्यमय कल्पना के वैभव के लिए सुविख्यात है, और जो किसी समय अपने जीवनसंबंधी व्यवहारों, सामाजिक प्रयत्नों और राजनैतिक संस्थाओं में किसी से कम नहीं थी।

३. भारतीय चित्रकला

हम न्यायतः ही यह कल्पना कर सकते हैं कि बौद्ध और हिंदू दोनों प्रकार की भारतीय चित्रकला ने, बराबर ही, पीछे की राजपूती कृति से बहुत कुछ मिलते-जुलते क्षेत्र में ही कार्य किया, पर किया अधिक विस्तृत ढंग से तथा एक पुराकालीन महानता से युक्त भावना के साथ; और अपने समग्र रूप में वह भारत जाति के संपूर्ण धर्म, संस्कृति और जीवन की व्याख्या थी।

इससे जो एकमात्र महत्त्वशाली और अर्थपूर्ण परिणाम निकलता है वह यही है कि समस्त भारतीय कला अपनी मूल भावना और परंपरा में सदा ही एक और अविच्छिन्न रही है। इस तरह, अजंता की प्राचीनतर कलाकृति बौद्धों की प्राचीनतर मूर्ति-रचना के सदृश पाई गई है, जब कि बाद के चित्र जावा की उभरी हुई नक्काशी से इसी प्रकार का घनिष्ठ साम्य रखते हैं।

और हम देखते हैं कि शैली और कार्यधारा के समस्त परिवर्तनों के होते हुए भी अजंता में जिस भावना और परंपरा का प्रभुत्व है वही बाघ और सिगिरिया में, खोतान के भित्तिचित्रों में तथा इन सबसे बहुत अधिक पीछे की बौद्ध पांडुलिपियों के पृष्ठों की सजावट और चित्रकारी में भी पायी जाती है और, रूप तथा रीति के परिवर्तन के होते हुए भी, राजपूती चित्रों में आध्यात्मिक दृष्टि से वही वस्तु है।

यह एकता और अविच्छिन्नता हमें उस मूल लक्ष्य और उस आंतरिक प्रवृत्ति एवं प्रेरणा तथा आध्यात्मिक पद्धति को पहचानने और स्पष्ट रूप से समझने में समर्थ बनाती है जो भारतीय चित्रकला को पहले तो पश्चिमी कृति से और फिर एशिया के अन्य देशों की निकटतर एवं अधिक सजातीय कला से पृथक् करती हैं।

भारतीय चित्रकला का मूल-भाव और हेतु अपनी परिकल्पना के केंद्र में और अपनी दृष्टि की रूपनिर्मायक शक्ति में भारतीय मूर्तिकला की अनुप्रेरक दृष्टि से अभिन्न है; समस्त भारतीय कला का स्वरूप एक विशेष प्रकार की गंभीर आत्म-दृष्टि को बाहर प्रकट करना है जो दृष्टि रूप तथा आकार के गुप्त अर्थ को ढूँढ़ने के लिए भीतर जाने से, अपनी गभीरतर आत्मा में कला के विषय की खोज करने से निर्मित होती है.....

समस्त भारतीय कला ...उस दृष्टि को एक आत्मिक रूप देना है तथा स्थूल एवं प्राकृतिक आकार के आंतरात्मिक सत्य को प्रकट करने के लिए रूप रेखा की यथासंभव अधिकतम शुद्धता और शक्ति के साथ तथा एक अविभाज्य कलात्मक समष्टि के सभी अवयवों में अर्थ की यथासंभव अधिकतम प्रगाढ़ छंदोमय एकता के साथ उसे नये साँचे में ढालना है। भारतीय चित्रकारी की किसी भी श्रेष्ठ रचना को क्यों न ले लें, हम देखेंगे कि उसमें इन मर्यादाओं को लक्ष्य बनाकर इन्हें संकेत और क्रियान्विति के जयशाली सौंदर्य के रूप में व्यक्त किया गया है।

भारतीय वास्तुकला और मूर्तिकला की भाँति भारतीय चित्रकला भी भौतिक और चैत्य दृष्टि के द्वारा एक अन्य, आध्यात्मिक दृष्टि को आकर्षित करती है जिसके द्वारा कि कलाकार ने अपनी रचना की थी और जब वह हमारे अंदर सौंदर्यबुद्धि के समान ही जागृत हो जाती है तभी इसके अर्थ की पूरी गहराई में इसका मूल्य आँका जा सकता है।

४. भारतीय साहित्य

जो कलाएँ आँख के द्वारा अंतरात्मा को आकर्षित करती हैं वे ही किसी जाति की भावना और सौंदर्य-वृत्ति तथा उसके सृजनशील मन की विशेष घनीभूत अभिव्यक्ति पर पहुँच सकती हैं, परंतु उसकी अत्यंत नमनशील और बहुमुखी आत्म-अभिव्यक्ति की खोज तो उसके साहित्य में ही करनी होगी, क्योंकि स्पष्ट अलंकार की अपनी समस्त शक्ति या ध्वनि के अपने समस्त सूत्रों के साथ प्रयुक्त किया गया शब्द ही अभिव्यक्त आंतर आत्मा के विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों और बहुल अर्थों को अत्यंत सूक्ष्म और विविध रूप में हमारे सामने प्रकट करता है।

किसी साहित्य की महानता सर्वप्रथम उसकी विषय वस्तु के मूल्य एवं महत्त्व में और उसके विचार की उपयोगिता तथा आकारों के सौंदर्य में निहित रहती है, पर साथ ही इस बात में भी कि वह वाणी की कला की ऊँची से ऊँची शर्तों को पूरा करता हुआ किसी जाति, युग एवं संस्कृति की आत्मा और जीवन को या उसके जीवंत और आदर्श मन को उसकी किन्हीं महत्तम या अत्यंत संवेदनशील प्रतिनिधि-आत्माओं की प्रतिभा के द्वारा प्रकट और उन्नत करने में किस हद तक सहायक होता है।

संस्कृत भाषा की प्राचीन एवं उच्चकोटिक रचनाएँ अपने गुण, तथा उत्कर्ष के स्वरूप एवं बाहुल्य दोनों में, शक्तिशाली मौलिकता, ओजस्विता और सुन्दरता में, अपने सारतत्त्व, कौशल और गठन में, वाक्-शक्ति के वैभव, औचित्य और आकर्षण में तथा अपनी भावना के क्षेत्र की उच्चता और विशालता में अत्यंत स्पष्टतः ही विश्व के महान् साहित्यों के बीच अग्र पंक्ति में प्रतिष्ठित हैं।

निर्णय देने योग्य व्यक्तियों ने सर्वत्र ही यह स्वीकार किया है कि स्वयं संस्कृत भाषा भी मानव मन के द्वारा विकसित किये हुए अत्यंत महान्, अत्यंत पूर्ण और अद्‌भुत रूप से समर्थ साहित्यिक साधनों में से एक है जो एक साथ ही भव्य, मधुर एवं नमनीय है, ओजस्वी, स्पष्ट रचित, समृद्ध, स्पंदनशील एवं सूक्ष्म भी है, और इसका गुण एवं स्वरूप, अपने-आप में, इस बात का पर्याप्त प्रमाण होना चाहिये कि जिस जाति के मानस को इसने व्यक्त किया है एवं जिस संस्कृति को प्रतिबिंबित करने के लिए इसने एक माध्यम का काम किया है उसका गुण और वैशिष्ट्य क्या था।

यह बात भी नहीं है कि भारतीय मन ने ऊँची, सुन्दर और पूर्ण रचनाएँ केवल संस्कृत भाषा में ही की हो, यद्यपि अपनी अत्यंत प्रधान, रचनात्मक और बृहत्तम कृतियों का बहुत बड़ा भाग उसने इसी भाषा में व्यक्त किया।

उसकी रचनाओं का पूरा मूल्य आँकने के लिए पाली भाषा में रचित बौद्ध साहित्य को तथा लगभग एक दर्जन संस्कृत-जनित और द्रविड़ भाषाओं के काव्य-साहित्यों को भी, जो अपनी रचनाओं की दृष्टि से कहीं तो प्रचुर हैं और कहीं बहुत परिमित, विचार में लाना आवश्यक होगा। यह संपूर्ण भारतीय साहित्य प्रायः एक महाद्वीपीय प्रभाव रखता है और अपनी वस्तुतः स्थाई रचनाओं के परिणाम में प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक युरोप की कृतियों से आज तक भी कम नहीं है तथा अपनी परमोत्कृष्ट रचनाओं में उसकी बराबरी भी करता है।

जो जाति और सभ्यता अपनी महान् कृतियों और अपने महान् नामों में वेद और उपनिषदों को, महाभारत और रामायण की शक्तिशाली रचनाओं को और कालिदास, भवभूति, भर्तृहरि एवं जयदेव को गिनती है और साथ ही उच्चकोटि भारतीय नाटक, काव्य और रोमांस की अन्य समृद्ध रचनाओं को, धम्मपद और जातकों को, पञ्चतंत्र को, तुलसीदास को, विद्यापति, चंडीदास और रामप्रसाद को, रामदास और तुकाराम को, तिरुवल्लूवर और कंबन को तथा....

....नानक, कबीर और मीराँबाई एवं दक्षिण के शैव संतों और आळ्वारों के गानों को भी गिनती है, – यहाँ, हमने केवल सुप्रसिद्ध लेखकों और अत्यंत विशिष्ट रचनाओं के ही नाम लिए हैं, यद्यपि विभिन्न भाषाओं में प्रथम और द्वितीय दोनों कोटियों की अन्य श्रेष्ठ कृतियों का भी अति विपुल समूह विद्यमान है, – उस जाति और उस सभ्यता को, निश्चय ही, सबसे महान् सभ्यताओं में और संसार की अत्यंत विकसित एवं सृजनशील जातियों में गिनना होगा।

भारतीय शासन प्रणाली

पाश्चात्य मत वाले आलोचकों ने दावा किया कि ...कोई स्वतंत्र या सबल राजनैतिक संगठन स्थापित करने में भारत सदैव अयोग्य सिद्ध हुआ है, वह निरंतर ही एक विभक्त एवं अपने सुदीर्घ इतिहास के अधिकतर काल में परतंत्र राष्ट्र रहा है, अतीत में उसकी आर्थिक व्यवस्था के चाहे कोई भी गुण – यदि कोई गुण थे भी तो – क्यों न रहे हों, पर वह एक अनमनीय एवं स्थितिशील व्यवस्था ही बनी रही जिसके परिणामस्वरूप वह वर्तमान अवस्थाओं में दरिद्रता और विफलता का शिकार हो गया है, इसी प्रकार उसका समाज ऊँची-नीची श्रेणियों की एक अप्रगतिशील परंपरा बना रहा जिस पर जात-पात का भूत सवार था और जिसमें अर्द्ध-बर्बर कुप्रथाओं की भरमार थी। अतएव उसकी वह समाज-व्यवस्था केवल भूतकाल के भग्नावशेषों के स्तूप में टूटी-फूटी रद्दी चीजों के बीच फेंक देने के लायक ही है और उसकी जगह युरोपीय समाज-व्यवस्था की स्वतंत्रता, सबलता और पूर्णता को या कम-से-कम उसकी प्रगतिशील संभाव्य पूर्णता को प्रतिष्ठित करना ही उचित है।

१. भारतीय शासन प्रणाली के सच्चे स्वभाव का सत्य

भारत की राजनैतिक अक्षमता की कहानी उसकी ऐतिहासिक विकासधारा को गलत दृष्टि से देखने और उसके प्राचीन भूतकाल का पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण उद्‌भूत हुई है।

यह धारणा बहुत समय तक प्रचलित रही है कि वह एक अधिक स्वतंत्र प्रकार की आदिम आर्य या वैदिक समाज-व्यवस्था और राष्ट्र-व्यवस्था से एक ऐसी व्यवस्था में जा पहुँचा जिस पर सामाजिक रूप में एकदम ही ब्राह्मणों के धर्मशासन की स्वेच्छाचारिता की छाप थी और राजनैतिक रूप में पूर्वीय, अर्थात् पश्चिम-एशियाई ढंग के निरंकुश राजतंत्र की। ऐसी व्यवस्था में पहुँचने के बाद से वह सदैव इन्हीं दो चीजों में फँसा रहा है।

भारतीय इतिहास के इस सरसरे अध्ययन को उसके अधिक सतर्क एवं प्रबुद्ध विद्वानों ने निर्मूल सिद्ध कर डाला है और असली तथ्य सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं।

यह सच है कि भारत ने उस प्रतिद्वंद्वितापूर्ण और उत्पीड़क व्यवसायवाद का या स्वाधीनता और ढोंगपूर्ण जनतंत्र के संसदीय संगठन का विकास कभी नहीं किया जो युरोपीय सभ्यता के विकास-चक्र के बुर्जुआ या वैश्य-युग की विशेषताएँ हैं। परंतु अब वे दिन बीत रहे हैं जब इन चीजों को सामाजिक और राजनैतिक प्रगति की आदर्श अवस्था एवं अंतिम बात मानकर बिना सोचे-विचारे इनकी प्रशंसा करने का चलन था, अब इनकी त्रुटियाँ दिखलाई पड़ रही हैं और एक पूर्वीय सभ्यता की महानता को इन पश्चिमी प्रगतियों के मानदण्ड से नापने की कोई आवश्यकता नहीं।

भारतीय विद्वानों ने भारत के अतीत में जनतंत्र के आधुनिक विचारों एवं नमूनों और यहाँ तक कि संसदीय प्रणाली को भी पढ़ने का यत्न किया है, परंतु मुझे यह प्रयत्न भ्रांतिपूर्ण प्रतीत होता है।

यदि पश्चिमी परिभाषाओं का प्रयोग करना आवश्यक ही हो तो हम कह सकते हैं कि भारतीय शासन प्रणाली में जनतंत्र का शक्तिशाली तत्त्व विद्यमान था, यहाँ तक कि ऐसी सभा-परिषदें भी थीं जो संसदीय-पद्धति से कुछ साम्य प्रदर्शित करती हैं। परंतु वास्तव में ये विशेष तत्त्व भारत के अपने ही ढंग के थे; ये बिल्कुल वैसी चीज नहीं थे जैसी कि आधुनिक संसदें और आधुनिक जनतंत्र हैं। और इन्हें यदि इस प्रकार समझा जाए तो ये भारतवासियों की उस राजनैतिक क्षमता का एक कहीं अधिक अद्‌भुत प्रमाण उपस्थित करते हैं जो उन्होंने इनको एक सजीव रूप में राष्ट्र के सामुदायिक मन और शरीर की समष्टि के अनुकूल बनाकर प्रदर्शित की थी, पर इन्हें पाश्चात्य समाज और उसके सांस्कृतिक विकास क्रम की निजी आवश्यकताओं के एक अतिभिन्न मानदंड के द्वारा परखने पर तो हमें इनसे इतनी विलक्षण राजनैतिक क्षमता का परिचय नहीं मिलता।

भारतीय शासन तंत्र का सच्चा स्वरूप हमारी समझ में केवल तभी आ सकता है जब हम इसे एक पृथक् वस्तु के रूप में, अर्थात् अपनी जाति के चिंतन और जीवन के अन्य अंगों से स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले एक यंत्र के रूप में न देख अपनी सामाजिक सत्ता-रूपी सजीव समष्टि के एक अंग के रूप में तथा उससे संबंध की दृष्टि से देखें।

भारतीय शासन प्रणाली के समस्त निर्माण, विस्तार और पुनर्निमाण में रचना का आधारभूत एकमात्र स्थाई सिद्धांत था सजीव रूप से आत्मनिर्धारण करने वाले सामुदायिक जीवन का सिद्धांत – पर वह सामुदायिक जीवन केवल समष्टि-रूप में तथा मतदान की मशीनरी के द्वारा और राष्ट्र के किसी भाग के राजनैतिक मन का ही प्रतिनिधित्व करने वाली एक बाहरी प्रतिनिधि-संस्था के द्वारा आत्म-निर्धारण नहीं करता था, – आधुनिक राष्ट्र-तंत्र केवल इतनी ही व्यवस्था कर सका है,– बल्कि उसके जीवन की रग-रग में तथा उसकी सत्ता के प्रत्येक पृथक्-पृथक् अंग में आत्म-निर्धारण करता था। एक स्वतंत्र समन्वयात्मक सामुदायिक व्यवस्था ही इसकी विशेषता थी, और स्वाधीनता की जो अवस्था इस शासन तंत्र का लक्ष्य थी वह उतनी वैयक्तिक नहीं जितनी कि सामुदायिक थी।

भारतीय जाति के जीवन, संस्कृति और सामाजिक आदर्शों को नियंत्रित करने वाला प्रधान विचार यह है कि मनुष्य को अपनी सच्ची आत्मा की खोज करनी चाहिए और इस आत्मोपलब्धि के लिए तथा अज्ञानमय प्राकृतिक स्थिति से आध्यात्मिक अवस्था की ओर आरोहण के लिए उसे अपने जीवन को एक ढाँचे और एक साधन के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। इस प्रबल विचार को भारत ने राजनैतिक और सामाजिक रचना के दबाव और उसकी स्थूल आवश्यकताओं एवं बाह्य अवस्थाओं के वशीभूत होने पर भी कभी सर्वथा भुला नहीं दिया।

परंतु सामाजिक जीवन को मनुष्य के सच्चे 'स्व' की अभिव्यक्ति और उसकी अंतःस्थ आत्मा की उच्चतम प्रतिमूर्ति बनाने में जो कठिनाई आती है वह उससे अत्यधिक बड़ी है जो धर्म, चिंतन, कला, साहित्य आदि मानसिक वस्तुओं के द्वारा आत्मा को अभिव्यक्त करने में आती है। जहाँ इन विषयों में भारत अलौकिक शिखरों और विशालताओं पर पहुँचा वहाँ बाह्य जीवन में कुछ एक अत्यंत आंशिक उपलब्धियों और अति अपूर्ण प्रयोगों के परे नहीं जा सका; ....

राजनीति, समाज और अर्थशास्त्र तो भारतीय प्रणाली में स्वीकृत मानव के लक्ष्य और कार्य-व्यापार के दो प्रारंभिक एवं स्थूलतर अंगों, अर्थ और काम (सुखभोग की कामना), के स्वाभाविक क्षेत्र हैं। धर्म को, जो इससे ऊँचा विधान है, कहीं भी आंशिक रूप से अधिक इसे जीवन के बाह्य क्षेत्र में नहीं लाया गया है, और राजनीति में तो इसे अतिन्यूनतम मात्रा में ही लाया गया है, क्योंकि राजनैतिक कार्य को नीतिशास्त्र के अनुसार संचालित करने का यत्न साधारणतः पाखंड से अधिक कुछ नहीं होता।

इस तरह हम देखते हैं कि भारत की प्राचीन राज्य-प्रणाली केवल इतनी ही दूर अग्रसर हो पायी थी कि उसके जीवन की सामाजिक, आर्थिक और यहाँ तक कि राजनैतिक, ... विधि-व्यवस्था, प्रणाली और प्रवृत्ति धर्म के अनुसार नियंत्रित होती थी और इन सबके मूल में आध्यात्मिक अर्थ की एक क्षीण आभा विद्यमान रहती थी ... निःसंदेह इतना-सा प्रयत्न उसने धैर्य और अध्यवसाय के साथ किया और इसने उसके सामाजिक शासन तंत्र को एक विशिष्ट रूप प्रदान किया।

२. प्राचीन भारतीय शासन तंत्र की प्रणाली

भारतीय शासन प्रणाली एक अत्यंत जटिल सामुदायिक स्वाधीनता और आत्म-निर्णय की प्रणाली थी। समाज की प्रत्येक वर्ग-रूपी इकाई का अपना स्वाभाविक अस्तित्व होता था और वह अपने निज जीवन और कार्य की व्यवस्था करती थी, अपने क्षेत्र और अपनी सीमाओं के स्वाभाविक विभाजन के कारण वह शेष इकाइयों से पृथक् होती थी, किंतु अच्छी तरह जाने-समझे हुए संबंधों के द्वारा संपूर्ण समष्टि के साथ संबद्ध रहती थी,....

....सामुदायिक सत्ता के अधिकारों और कर्त्तव्यों में प्रत्येक इकाई अन्यों की सहभागिनी होती थी, वह अपने निजी नियमों और विधानों को कार्यान्वित करती थी तथा अपनी निजी सीमाओं के भीतर शासन प्रबंध का कार्य करती थी, पारस्परिक या सर्वसामान्य हित के विषयों के विवेचन तथा नियमन के कार्य में अन्यों के साथ हाथ बँटाती थी और राज्य या साम्राज्य की महासभाओं में किसी-न-किसी रूप में तथा अपने महत्त्व की मात्रा के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त करती थी।

राज्य, राजा या सर्वोच्च राजनैतिक अधिकारी संगति-स्थापन और सामान्य नियंत्रण एवं कार्यदक्षता का माध्यम होता था और वह एक सर्वोच्च अधिकार का प्रयोग करता था जो निरपेक्ष और निरंकुश नहीं होता था; क्योंकि अपने सभी अधिकारों और शक्तियों में वह विधान और प्रजा की इच्छा के द्वारा सीमाबद्ध रहता था और राज्य के भीतर के अपने सभी कार्यों में सामाजिक-राजनैतिक ढाँचे के अन्य सदस्यों का सहयोगी मात्र होता था।

भारतीय शासनप्रणाली का सिद्धांत, मूलसूत्र एवं वास्तविक संविधान यही था, वह सामुदायिक स्वाधीनता और आत्म-निर्धारण का एक जटिल मिश्रण थी जिसके ऊपर एक सर्वोच्च संगति-स्थापक सत्ता, एक शासक व्यक्ति एवं संस्था होती थी जो कार्यक्षम शक्तियों, पद और प्रतिष्ठा से सुसंपन्न होते हुए भी अपने विशिष्ट अधिकारों और कर्त्तव्यों की सीमा से बंधी रहती थी, शेष सबको नियंत्रित करती और साथ ही उनके द्वारा नियंत्रित रहती थी, सभी विभागों में उन्हें अपने ऐसे सक्रिय सहयोगियों के रूप में स्थान देती थी जो सामुदायिक सत्ता के नियमन और प्रशासन में उसका हाथ बँटाते थे, और राजा, जनता तथा उसके अंगभूत सभी समाज, सब-के-सब समान रूप से, धर्म की रक्षा करने के लिए बाध्य होते थे तथा उसकी अधीनता से नियंत्रित रहते थे।

...सामुदायिक जीवन के आर्थिक और राजनैतिक पक्ष धर्म का ही केवल एक भाग होते थे और सो भी एक ऐसा भाग जो शेष सबसे, अर्थात् समाज के धार्मिक, नैतिक एवं उच्चतर सांस्कृतिक लक्ष्य से किसी भी प्रकार पृथक् नहीं बल्कि उनके साथ अविच्छेद्य रूप में जुड़ा हुआ होता था।

नैतिक विधान राजनैतिक और धार्मिक विधान पर अपना प्रभाव डालता था और राजा तथा उसके मंत्रियों और परिषद् तथा व्यवस्थापिका सभाओं के, व्यक्ति के और समाज के अंगभूत वर्गों के प्रत्येक कार्य पर लागू होता था; मतदान में तथा मंत्री, अधिकारी और परिषद् की योग्यताओं में नैतिक और सांस्कृतिक विचारणाएँ महत्त्व रखती थीं; आर्य जाति के राजकार्य में जो भी लोग पदाधिकारी होते थे उन सबसे उच्च चरित्र और प्रशिक्षा की आशा की जाती थी।

धार्मिक भाव, और धर्म का स्मरण कराने वाले व्यक्ति ही राजा और प्रजा के संपूर्ण जीवन का अधिष्ठातृत्व करते थे और वही इसकी पृष्ठभूमि में भी काम करते थे। जीवन-प्रणाली के कुछ अंगों का आवश्यक विशिष्टकरण होने के उपरान्त भी समाज के जीवन को अपने-आप में लक्ष्य नहीं माना जाता था, वरन् इससे कहीं अधिक उसे उसके सभी भागों में तथा समूचे रूप में मानव मन और अंतरात्मा की शिक्षा के लिए तथा प्राकृत जीवन में से आध्यात्मिक जीवन की ओर इसके विकसित होने के लिए एक महान् आधार और अभ्यास-क्षेत्र समझा जाता था।

संपूर्ण भारतीय प्रणाली की स्थापना इस आधार पर की गई थी कि सार्वजनीन जीवन में सभी वर्ण घनिष्ठ रूप से भाग लें, प्रत्येक वर्ण अपने-अपने क्षेत्र में प्रधान हो, ब्राह्मण धर्म और विद्या में, क्षत्रिय युद्ध, राज्य-कौशल और अंतर्राजकीय राष्ट्र-नीतिक कार्रवाई में, वैश्य धनोपार्जन तथा उत्पादनात्मक आर्थिक कार्य-व्यापार में, परंतु नागरिक जीवन में अपना भाग प्राप्त करने तथा राजनीति, प्रशासन और न्याय में एक प्रभावपूर्ण स्थान पाने तथा अपने मत उद्घाटित करने से किसी को भी यहाँ तक कि शूद्र को भी वंचित न रखा जाए।

परिणामस्वरूप, प्राचीन भारतीय शासनतंत्र ने किसी भी युग में वर्ग-शासन के उन एकांगी रूपों को जो अन्य देशों के राजनैतिक इतिहास की इतने दीर्घकाल तक एक प्रबल विशेषता रहे हैं, विकसित नहीं किया या कम-से-कम उन्हें दीर्घकाल तक कायम नहीं रखा। कोई पुरोहितों का राज्य जैसा कि तिब्बत में है, या कोई भूमिपतियों और सैनिकों के अभिजात-वर्ग का शासन जैसा कि फ्रांस और इंगलैंड में तथा युरोप के अन्य देशों में सदियों तक प्रचलित रहा, या कोई व्यापारियों का अल्पजनराज्य जैसा कि कार्थेज और वेनिस में रहा – शासन के ये सभी रूप भारतीय भावना के लिए विजातीय थे।

जहाँ तक हम उपलभ्य अभिलेखों से अनुमान लगा सकते हैं, भारतीय सभ्यता का सामाजिक-राजनैतिक विकास चार ऐतिहासिक अवस्थाओं में से गुजरा; पहली थी आर्यों के सरल समाज की अवस्था, उसके बाद आया संक्रमण का लंबा काल जिसमें जातीय जीवन राजनैतिक संगठन और समन्वय के क्षेत्र में अनेक विध परीक्षणात्मक रचनाओं में से गुजरता हुआ आगे बढ़ रहा था, तीसरी अवस्था में राजतंत्रात्मक राज्य ने सुनिश्चित रूप ग्रहण किया और जाति के सामुदायिक जीवन के सभी जटिल तत्त्वों को प्रादेशिक एवं साम्राज्यीय एकताओं के रूप में सुसमन्वित कर दिया, और अंत में आया ह्रास का युग जिसमें आंतरिक गत्यवरोध उत्पन्न होने से सर्वत्र निश्चेष्टता छा गई और पश्चिमी एशिया तथा युरोप से आयी हुई नई संस्कृतियाँ एवं प्रणालियाँ हमारे देश पर लादी गईं।

पहली तीन अवस्थाओं का विशिष्ट स्वरूप है – सभी रचनाओं में एक विलक्षण दृढ़ता और स्थिरता तथा जाति के जीवन का स्वस्थ, प्राणवंत और शक्तिशाली विकास जो उसकी जीवन-व्यवस्था की इस मूलभूत रक्षणात्मक स्थिरता के कारण धीर और मंथर गति से संपादित होता था पर फिर भी अपने संघटन में अत्यधिक सुनिश्चित था और अपनी रचना में जीवंत और पूर्ण भी।

और ह्रास के समय भी यह दृढ़ता विध्वंस की प्रक्रिया के विरुद्ध डटकर उसका प्रबल प्रतिरोध करती है। विजातीय बोझ से दबकर रचना ऊपर से टूट-फूट जाती है पर अपने आधार को दीर्घ काल तक सुरक्षित रखती है, जहाँ कहीं वह आक्रमण के विरुद्ध अपने-आपको कायम रख सकती है, वहाँ वह अपनी विशिष्ट प्रणाली को भी अधिकांश में बचाए रखती है ... कुछ भी हो, भारत के सांस्कृतिक मन की रचनाओं की चिरस्थायिता एवं उनकी छत्रछाया में पनपे जीवन की महानता, निश्चय ही उसकी अक्षमता का नहीं बल्कि अद्‌भुत राजनैतिक सहजबुद्धि और क्षमता का चिह्न है।

इसके विकास की अत्युच्च अवस्था में तथा भारतीय सभ्यता के महान् दिनों में हम एक अत्युत्तम राजनैतिक प्रणाली देखते हैं जो सर्वोच्च मात्रा में कार्यक्षम थी और सामाजिक स्व-शासन तथा स्थिरता एवं व्यवस्था का संयोग अत्यंत पूर्ण रूप में साधित किए हुई थी। राज्य अपने, प्रशासनिक, न्याय-संबंधी, आर्थिक और रक्षणात्मक कार्य को जनता के तथा इन्हीं विभागों से संबंधित इसकी अंगभूत संस्थाओं के अधिकारों एवं स्वतंत्र कार्य-कलापों को विनष्ट किये बिना या इनमें हस्तक्षेप किये बिना परिचालित करता था।

राजधानी और शेष सारे देश के राजकीय न्यायालय एक ऐसी सर्वोच्च न्यायसत्ता थे जो राज्यभर में न्याय-प्रबंध में सामंजस्य स्थापित करती थी, परंतु वे न्यायालय ग्राम तथा नगर के संस्थानों के द्वारा अपनी अदालतों को सौंपे गए न्यायाधिकारों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करते थे, और, यहाँ तक कि, राजकीय प्रणाली मध्यस्थता के एक विशाल साधन के रूप में कार्य करने वाले निगम, जाति और कुल के न्यायालयों को भी अपने साथ संबंधित रखते थे और केवल अधिक भयानक अपराधों पर ही एकमात्र अपना नियंत्रण रखने का आग्रह करते थे।

ग्राम और नगर के संस्थानों की प्रशासनिक एवं आर्थिक शक्तियों के प्रति भी इसी प्रकार का सम्मान प्रदर्शित किया जाता था। शहर और देहात में राजा के राज्यपालों और पदाधिकारियों के साथ-ही-साथ, जनता और उसकी व्यवस्थापिका सभाओं के द्वारा नियुक्त जन-शासक और पदाधिकारी तथा सामाजिक मुखिया और पदधारी भी रहा करते थे।

राष्ट्र की धार्मिक स्वाधीनता या उसके सुप्रतिष्ठित आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में राज्य हस्तेक्षप नहीं करता था; वह अपने को सामाजिक व्यवस्था की रक्षा तक तथा समस्त राष्ट्रीय कार्यकलाप के समृद्ध एवं शक्तिशाली संचालन के लिए अपेक्षित निरीक्षण एवं साहाय्य तथा सुसंगति एवं सुविधाओं के प्रबंध तक ही सीमित रखता था। भारत के सामाजिक मन के द्वारा पहले से ही सृष्ट स्थापत्य, कला-शिल्प, संस्कृति, ज्ञान और साहित्य के लिए भव्य और उदारप्रेरणा के स्रोत के रूप में अपने सुयोगों को भी वह बराबर ही समझता था और उन्हें समुज्जवल रूप में चरितार्थ भी करता था।

राजा के व्यक्तित्व के रूप में वह एक महान् एवं सुस्थिर सभ्यता तथा स्वतंत्र एवं जीवंत जाति का प्रतिष्ठित और शक्तिशाली नायक था तथा राजा के प्रशासन की पद्धति के रूप में वह इस सभ्यता एवं जाति का एक सर्वोच्च यंत्र था जो न तो कोई निरंकुश तानाशाही या नौकरशाही था और न जीवन का दमन करने वाली या उसका स्थान ले लेने वाली मशीन।

भारतीय समाजतंत्र एवं राष्ट्रतंत्र के तथ्यों का यथार्थ ज्ञान एवं इनके स्वरूप और सिद्धांत का यथाक्त बोध पश्चिमी आलोचकों के इस तर्क का तुरंत निराकरण कर देता है कि भारतीय मन यद्यपि दर्शन, धर्म, कला और साहित्य में विलक्षण था तथापि जीवन का संगठन करने में अयोग्य था, व्यावहारिक बुद्धि के कार्यों में हीन कोटि का था और, विशेषकर, राजनैतिक परीक्षण में असफल था तथा इसका इतिवृत सबल राजनैतिक निर्माण, चिंतन एवं कर्म से शून्य है।

इसके विपरीत, भारतीय सभ्यता ने एक उच्च कोटि की राजनैतिक प्रणाली का विकास किया था जो ठोस रूप में तथा स्थाई दृढ़ता के साथ निर्मित की गई थी; साथ ही, जन निर्माण के अपने प्रयत्नों में मनुष्य का मन जिन राजतंत्र, जनतंत्र तथा अन्य शासनतंत्रों के सिद्धांतों और प्रवृत्तियों की ओर झुका है उन सबको भारतीय सभ्यता ने अद्‌भुत कौशल से एक-दूसरे के साथ संयुक्त किया और फिर भी वह यांत्रीकारक प्रवृत्ति की उस अति से मुक्त रही जो कि आधुनिक युरोपीय राज्य का दोष है।

३. *प्राचीन भारत में राजनैतिक एकीकरण में उत्पन्न कठिनाइयों का रहस्य*

*राजनीति का एक और भी पहलू है जिसके बारे में...*यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजनैतिक मानस ने अपने इतिहास में असफलता के सिवा और कुछ भी अंकित नहीं किया। इसने जिस राष्ट्र-व्यवस्था का विकास किया वह प्राचीन अवस्थाओं में स्थिरता तथा प्रभावशाली प्रशासन के लिए और सामाजिक सुशृंखला एवं सर्वविध स्वाधीनता तथा जनहित को अधिगत करने के लिए भले ही सराहनीय रही हो, पर यद्यपि इस देश की अनेकों जातियों में से प्रत्येक पृथक्-पृथक् स्व-शासित, सुशासित और समृद्ध थी और, व्यापक रूप में, सारा देश भी अपनी अत्युन्नत सभ्यता एवं संस्कृति के स्थिरतापूर्वक कार्य करते रहने के बारे में आश्वस्त था, तथापि वह राष्ट्र-व्यवस्था भारत के राष्ट्रीय और राजनैतिक एकीकरण को साधित करने में असफल रही और अंत में विदेशी आक्रमण से, इसकी संस्थाओं के विघटन तथा इसकी युगव्यापी दासता से इसकी रक्षा करने में भी असमर्थ रही। राष्ट्रीय और राजनैतिक रूप में भारत कभी भी एक नहीं रहा है। करीब एक हजार साल तक भारत बर्बर आक्रमणों से क्षत-विक्षत होता रहा तथा लगभग और एक हजार वर्ष तक एक के बाद एक विदेशी प्रभुओं का दास रहा। इसलिए, स्पष्टतः ही, भारत जाति के विरुद्ध यह निर्णय देना होगा कि यह राजनैतिक दृष्टि से अक्षम थी।

*यहाँ यह कहा जा सकता है कि...*सर्वप्रथम, यदि किसी जाति और सभ्यता की महानता का मूल्य उसकी सैनिक आक्रमणकारिता, उसकी विदेश-विजय के मापदंड, अन्य राष्ट्रों के साथ युद्ध में उसकी सफलता तथा उसकी संगठित धन-लिप्सा और डकैती की प्रवृत्तियों की विजय, राज्य-विस्तार और शोषण के लिए उसके अदम्य आवेग के द्वारा आँका जाना हो तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत् की महान् जातियों की सूची में भारत शायद सबसे नीचे स्थान पाएगा। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत अपनी सीमाओं के परे आक्रमण के द्वारा सैनिक और राजनैतिक विस्तार करने के लिए कभी प्रेरित नहीं हुआ; भारतीय सफलता के इतिहास में विश्व-प्रभुत्व का कोई भी महान् काव्य, सुदूरव्यापी आक्रमण या विस्तारशील औपनिवेशिक साम्राज्य की कोई भी महान् कथा कभी नहीं लिखी गई। जिस विस्तार, आक्रमण और विजय के लिए उसने एकमात्र महत् प्रयास किया वह था अपनी संस्कृति का विस्तार तथा बौद्ध विचार के द्वारा और अपनी आध्यात्मिकता, कला तथा विचार-शक्तियों के प्रवेश के द्वारा पूर्वीय जगत् पर आक्रमण एवं विजय। और यह युद्ध का नहीं बल्कि शांति का आक्रमण था, क्योंकि बल प्रयोग एवं भौतिक विजय के द्वारा, जो आधुनिक साम्राज्यवाद की मिथ्या बड़ाई या छल है, अपनी आध्यात्मिक सभ्यता का प्रसार करना उसके मन और स्वभाव की प्राचीन गठन के तथा उसके धर्म के आधारभूत विचार के विपरीत होता। निःसंदेह, उपनिवेश बसाने वाले अभियानों की एक शृंखला भारतीय रक्त और भारतीय संस्कृति को इजियन सागर (Archipelago) के द्वीपों तक ले गई, परंतु पूर्वीय और पश्चिमी दोनों तटों से जिन जहाजों ने प्रस्थान किया वे कोई ऐसे आक्रांताओं के

जहाजी बेड़े नहीं थे जिनका उद्देश्य उन सीमा तटवर्ती देशों को भारतीय साम्राज्य में मिला लेना हो बल्कि वे उन निर्वासितों या साहसिक कार्य करने वालों के थे जो उस युग की संस्कृतिहीन जातियों के लिए भारतीय धर्म, स्थापत्य, कला, काव्य विचार, जीवन तथा आचारनीति को अपने संग ले गए। साम्राज्य के, यहाँ तक कि जगत्-साम्राज्य के विचार का भी भारतीय मन में सर्वथा अभाव हो ऐसी बात नहीं थी, पर उसका जगत् था भारतीय जगत् तथा उसका उद्देश्य था इसकी जातियों की साम्राज्यीय एकता की स्थापना।

*दूसरा...*भारतीय मन का संपूर्ण आधार है इसका आध्यात्मिक एवं अंतर्मुख झुकाव, आत्म-तत्त्व और अंतःसत्ता की वस्तुओं को प्रथम और प्रधान रूप में खोजने तथा अन्य सभी वस्तुओं को इस रूप में देखने की इसकी प्रवृत्ति कि वे गौण एवं पराश्रित हैं, उच्चतर ज्ञान के प्रकाश में ही व्यवहृत और निर्धारित करने के योग्य हैं और गंभीरतर आध्यात्मिक लक्ष्य की एक अभिव्यक्ति हैं, उसका आरंभिक साधन या क्षेत्र या सहायक उपकरण अथवा कम-से-कम एक सहचारी तत्त्व हैं,– अतएव इसे जो कुछ निर्मित करना हो उसे पहले आंतरिक स्तर पर और बाद में ही उसके अन्य पहलुओं में निर्मित करने की प्रवृत्ति। यह मनोवृत्ति और इसके परिणामस्वरूप अंदर से बाहर की ओर निर्माण करने की इस प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए, यह अनिवार्य ही था कि भारत सबसे पहले जिस ऐक्य को अपने लिए निर्मित करे वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक ऐक्य ही हो। सर्वप्रथम, वह कोई ऐसा राजनैतिक एकीकरण नहीं हो सकता था जो एक विजयी राज्य के द्वारा या सैनिक एवं संघटनकारी जाति की प्रतिभा के द्वारा एक केंद्रीभूत, आरोपित या निर्मित बाह्य शासन की सहायता से साधित किया गया हो जैसा कि रोम या प्राचीन फारस में किया गया था। मेरे विचार में यह उचित रूप में नहीं कहा जा सकता कि यह भारतीय मन की एक भूल थी अथवा यह उसकी अव्यावहारिक प्रवृत्ति का एक प्रमाण था और एक अखंड राजनैतिक संगठन का निर्माण पहले करना चाहिये था और बाद में भारत के राष्ट्रीय साम्राज्य के विशाल संगठन में आध्यात्मिक एकता सुरक्षित रूप में विकसित हो सकती थी। आरंभ में जो समस्या उपस्थित थी वह यह थी कि एक विशाल भूभाग विद्यमान था जिस पर शताधिक राज्य, कुल, समाज, कबीले और जातियाँ निवास करती थीं, और जो इस बात में एक दूसरा यूनान ही था, बल्कि यूनान भी एक बहुत बड़े पैमाने पर, लगभग आधुनिक युरोप जितना ही विशाल। जिस प्रकार यूनान में एकत्व की मूल भावना उत्पन्न करने के लिए सांस्कृतिक, यूनानी (Hellenic) एकता आवश्यक थी, उसी प्रकार यहाँ भी तथा उससे कहीं अधिक अनिवार्य रूप में इन सब जातियों की एक सचेतन आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता पहली और अपरिहार्य शर्त थी जिसके बिना कोई भी स्थाई एकता संभव नहीं हो सकती थी। इस विषय में भारतीय मन की और भारत के महान् ऋषियों तथा उसकी संस्कृति के संस्थापकों की सहज प्रवृत्ति सर्वथा युक्तियुक्त थी। और चाहे हम यह मान भी लें कि प्राचीन भारत की जातियों में सैनिक और राजनैतिक साधनों के द्वारा रोमन जगत् की एकता

जैसी बाह्य साम्राज्यीय एकता स्थापित की जा सकती थी तो भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि रोमन एकता स्थाई नहीं रही, यहाँ तक कि रोमन विजय और संगठन के द्वारा स्थापित प्राचीन इटली की एकता भी स्थाई नहीं रही, और यह संभव नहीं था कि पहले से आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक आधार स्थापित किये बिना भारत के विशाल क्षेत्रों में इस प्रकार का प्रयत्न स्थाई रूप में सफल होता।

आखिरकार, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता ही एकमात्र स्थाई एकता है और एक स्थाई भौतिक शरीर तथा बाह्य संगठन की अपेक्षा कहीं अधिक एक सुस्थिर मन और आत्मा के द्वारा ही किसी जाति की अंतरात्मा जीवित रहती है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे समझने या स्वीकार करने के लिए पाश्चात्य मन अनिच्छुक हो सकता है और फिर भी इसके प्रमाण युगों की सम्पूर्ण कहानी के अंदर सर्वत्र लिखे पड़े हैं। भारत के समकालीन प्राचीन राष्ट्र और बहुत से उसकी अपेक्षा अर्वाचीन राष्ट्र भी मर चुके हैं और केवल उनके स्मारक चिह्न ही उनके पीछे बच रहे हैं। यूनान और मिस्र केवल नक्शे पर और नामभर के लिए ही अस्तित्व रखते हैं, क्योंकि आज हम एथेन्स या काहिरा में जो चीज देखते हैं वह हेलस (Hellas) की अंतरात्मा, या मेम्फीज (Memphis) का निर्माण करने वाली गंभीरतर राष्ट्रीय आत्मा नहीं है। रोम ने भूमध्यसागर के आसपास रहने वाली जातियों पर राजनैतिक एवं निरी बाह्य सांस्कृतिक एकता थोपी थी, परंतु उनमें जीवंत आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता वह उत्पन्न नहीं कर सका, और इसलिए पूर्व पश्चिम से अलग हो गया, अफ्रीका ने मध्यवर्ती संक्षिप्त रोमन काल की कोई भी छाप बची नहीं रहने दी, और यहाँ तक कि पश्चिमी राष्ट्र जो अभी तक लैटिन राष्ट्र कहलाते हैं बर्बर आक्रांताओं का कोई जीवंत प्रतिरोध नहीं कर सके और उन्हें आधुनिक इटली, स्पेन और फ्रांस बनने के लिए विदेशी जीवन शक्ति से संचारित होकर पुनः जन्म लेना पड़ा। परंतु भारत अभी तक जीवित है और युगों के भारत के साथ अपने आंतरिक मन, अंतरात्मा और आत्मा के अविच्छिन्न संबंध को सुरक्षित रखे हुए है। उसके वैदिक ऋषियों ने उसके लिए जो शरीर बनाया था उसमें से उसकी प्राचीन आत्मा को निकाल बाहर करने या कुचल डालने में आक्रमण और विदेशी शासन, यूनानी, पार्थियन और हूण, इस्लाम की दुर्दांत शक्ति, स्टीम रोलर (Steam-roller) के जैसा ब्रिटिश आधिपत्य और ब्रिटिश राज्य प्रणाली का भारी-भरकम बोझ, पश्चिम का गुरुतर दबाव – ये सब असमर्थ हुए हैं। प्रत्येक पग पर, प्रत्येक संकट, आक्रमण और स्वेच्छाचारी शासन के समय, वह सक्रिय या निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा मुकाबला करने और जीवित बचे रहने में समर्थ हुआ है। यह कार्य वह अपने महान् दिनों में अपनी आध्यात्मिक एकसूत्रता के तथा आत्मीकरण और प्रतिक्रिया की शक्ति के द्वारा करने में समर्थ हुआ, जो कुछ भी आत्मसात् होने योग्य नहीं था उस सबको उसने बहिष्कृत कर डाला, जो कुछ बहिष्कृत नहीं किया जा सकता था उस सबको आत्मसात् कर लिया, और ह्रास का आरंभ होने के बाद भी वह उसी शक्ति के द्वारा जीवित रह सका जो कम तो हो गई थी पर नष्ट

नहीं की जा सकी थी, उसने पीछे हटकर कुछ समय तक दक्षिण में अपनी प्राचीन राजनैतिक प्रणाली को सुरक्षित रखा, इस्लाम का दबाव पड़ने पर अपनी प्राचीन आत्मा और अपनी भावना की रक्षा करने के लिए राजपूतों, सिक्खों और मराठों को झट उत्पन्न कर दिया, जहाँ वह सक्रिय रूप में प्रतिरोध नहीं कर सका वहाँ निष्क्रिय रूप में डटा रहा, जो भी साम्राज्य उसकी पहेली का समाधान नहीं कर सका या उसके साथ समझौता नहीं कर सका उसे विध्वस्त हो जाने का दंड दे दिया, और बराबर अपने पुनरुज्जीवन के दिन की प्रतीक्षा करता रहा। ...इस मौलिक विशिष्टता तथा इस अमिट आध्यात्मिक छाप के कारण, समस्त विभिन्नताओं के बीच इस आधारभूत एकत्व के विद्यमान रहने के कारण ही, भारत यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से अभी एक अखंड संघटित राष्ट्र नहीं है तो भी वह अभी तक जीवित है और अभी तक भारत ही है।

...तब भला जो सभ्यता ऐसा चमत्कार कर सकी उसकी सर्वातिशयी जीवन-शक्ति के बारे में हम क्या कहेंगे तथा उन लोगों की बुद्धिमता के बारे में क्या कहेंगे जिन्होंने उसकी आधारशिला बाह्य वस्तुओं पर नहीं बल्कि आत्मा और आंतरिक मन पर स्थापित की और आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता को भारत की सत्ता का केवल भंगुर कुसुम नहीं वरन् इसकी सत्ता का मूल और तना बनाया, ऊपर की नश्वर रचना नहीं वरन् सनातन भित्ति बनाया?

...आध्यात्मिक एकता एक विशाल एवं नमनशील वस्तु है और वह राजनैतिक एवं बाह्य एकता की भाँति केंद्रीकरण तथा एकरूपता पर आग्रह नहीं करती; वरन् वह राष्ट्र के संस्थान में सर्वत्र व्याप्त हुई रहती है और जीवन की अत्यधिक विविधता और स्वतंत्रता के लिए सहज ही अवकाश देती है। यहाँ हम प्राचीन भारत में एकता स्थापित करने की समस्या की कठिनाई के रहस्य का यत्किंचित् उल्लेख करेंगे। यह एक ऐसे केंद्रीभूत एकरूप साम्राज्यीय राज्य के साधारण साधन के द्वारा साधित नहीं की जा सकती थी जो स्वच्छंद विभिन्नता, स्थानीय स्वायत्त शासनों तथा सुप्रतिष्ठित सामुदायिक स्वाधीनताओं का समर्थन करने वाली सभी वस्तुओं को कुचल डाले, और इस दिशा में जब-जब भी प्रयत्न किया गया तब-तब वह, प्रत्यक्ष सफलता की चाहे कितनी भी लंबी अवधि के बाद, विफल ही हो गया और हम यहाँ तक कह सकते हैं कि भारत की भवितव्यता के रक्षकों ने बुद्धिमत्तापूर्वक ही उसे विफल होने के लिए विवश किया ताकि इसकी आभ्यंतरिक आत्मा नष्ट न हो जाए और इसकी अंतरात्मा अस्थाई सुरक्षा के इंजन के बदले में अपने जीवन के गंभीर स्रोतों को न बेच डाले। भारत के प्राचीन मन को अपनी आवश्यकता का सहज ज्ञान था; साम्राज्य के विषय में उसका विचार यह था कि यह एक ऐसा एकीकारक शासन होना चाहिए जो प्रत्येक वर्तमान प्रादेशिक एवं सामाजिक स्वाधीनता का सम्मान करे तथा किसी भी जीवित स्वायत्त-शासन को अनावश्यक रूप से कुचल न डाले और जो

भारत का यांत्रिक एकत्व नहीं वरन् इसके जीवन का समन्वय साधित करे।

एक ऐसे शासनतंत्र को खोज निकालना आवश्यक था जो अपने सदस्यों में शांति और एकता को बनाए रखे, बाह्य आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा की सुनिश्चित व्यवस्था करे और अपनी एकता और विविधता में, उन्मुक्त विलास एवं विकास को एक सर्वांगीण रूप प्रदान करे।.... भारत का प्राचीनतर मन प्रस्तुत समस्या का यही अर्थ समझता था। बाद के युग के प्रशासनिक साम्राज्य ने इसे केवल आंशिक रूप में ही स्वीकार किया, परंतु उसकी प्रवृत्ति, जैसी कि केंद्रीकारक प्रवृत्ति सदा ही हुआ करती है, यह थी कि अधीनस्थ स्वायत्त-शासनों की शक्ति को यदि सक्रिय रूप में नष्ट न भी किया जाए तो भी, अत्यंत धीमे-धीमे और अवचेतन रूप में, उसे क्षीण और जर्जर तो कर ही दिया जाए। परिणाम यह हुआ कि जब कभी केंद्रीय सत्ता कमजोर हुई, प्रादेशिक स्वायत्त-शासन के सुदृढ़ सिद्धांत ने जो भारत के जीवन के लिए अत्यावश्यक था, सुस्थापित कृत्रिम एकता को हानि पहुँचाकर फिर से अपना अधिकार जमा लिया।

अतएव, भारत की एकता साधित करने में जो असफलता प्राप्त हुई, जिसके परिणामस्वरूप पहले तो इस पर आक्रमण होते रहे और अंत में इसे विदेशी शासन के अधीन होना पड़ा, उसका कारण यह था कि यह कार्य अत्यंत विस्तृत और साथ ही निराले ढंग का था, क्योंकि केंद्रीभूत साम्राज्य की सुगम प्रणाली भारत में सच्चे अर्थ में सफल नहीं हो सकी, जब कि फिर भी यही एकमात्र संभव उपाय प्रतीत होती थी और इसका पुनः-पुनः प्रयोग किया गया तथा उसमें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई जिससे उस समय एवं दीर्घ काल तक ऐसा जान पड़ा कि यह एक समुचित उपाय है, पर अंत में सदा असफलता ही हाथ लगी। इस बात की ओर मैं संकेत कर ही चुका हूँ कि भारत का प्राचीन मन इस समस्या के वास्तविक स्वरूप को अधिक अच्छी तरह समझता था। वैदिक ऋषियों और उनके उत्तराधिकारियों ने अपना प्रधान कार्य यही बनाया था कि भारतीय जीवन का आध्यात्मिक आधार स्थापित किया जाए और इस प्रायद्वीप की अनेकानेक जातियों को आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता के सूत्र में पिरोया जाए। परंतु राजनैतिक एकीकरण की आवश्यकता की ओर से उन्होंने आँखें नहीं मूँद रखी थीं। उन्होंने आर्य जातियों के कुल-जीवन की विभिन्न आकार वाले राज्यसंघों तथा राज्यमंडलों के, वैराज्य और साम्राज्य के अधीन संगठित होने की अटल प्रवृत्ति का निरीक्षण किया और देखा कि इस धारा का इसके पूर्ण परिणाम तक अनुसरण करना ही ठीक मार्ग है और अतएव उन्होंने चक्रवर्ती राजा के, अर्थात् एक ऐसे एकीकारक साम्राज्यीय शासन के आदर्श का विकास किया जो एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक के भारत के अनेक राज्यों और जातियों के स्वायत्त-शासन को ध्वस्त किये बिना उन्हें एक कर दे। इस आदर्श को उन्होंने, भारतीय जीवन की अन्य प्रत्येक वस्तु की भाँति, आध्यात्मिक एवं धार्मिक स्वीकृति के द्वारा समर्थित किया, इसके बाह्य प्रतीक के रूप में

अश्वमेध और राजसूय यज्ञों का आदर्श स्थापित किया और यह निश्चित कर दिया कि शक्तिशाली राजा का धर्म या फिर उसका राजोचित और धार्मिक कर्त्तव्य यह है कि वह इस आदर्श की सिद्धि के लिए प्रयत्न करे। धर्म उसे इस बात की अनुमति नहीं देता था कि वह अपने शासन के अधीन होने वाली जातियों की स्वतंत्रता का अपहरण करे अथवा उनके राजवंशों को सिंहासन से च्युत या विनष्ट कर दे या उनके शासकों के स्थान पर अपने पदाधिकारियों एवं शासकों को आसीन कर दे। उसका कर्त्तव्य एक ऐसी सर्वोपरि सत्ता की स्थापना करना था जो इतनी सैनिक शक्ति से युक्त हो कि जो आंतरिक शांति की रक्षा कर सके। और आवश्यकता पड़ने पर देश की संपूर्ण सैन्य-शक्तियों को संयुक्त कर सके।

अंतिम पीढ़ी ने दासतापूर्ण निष्ठा के साथ पश्चिम के आदर्शों और आचारों की नकल करने एवं प्रतिकृति उतारने का जो निर्जीव प्रयत्न किया वह भारतवासियों की राजनैतिक मनीषा एवं प्रतिभा का कोई सच्चा चिह्न नहीं है। परंतु अस्तव्यस्तता के समस्त कुहासे के बीच अभी भी एक नई संध्या के, सायंकाल नहीं वरन् प्रातःकाल की युग-संध्या के, फिर से उदित होने की संभावना है। **युग-युग का भारत मरा नहीं है, न उसने अपनी अंतिम सृजनक्षम वाणी ही उच्चारित की है; वह जीवित है और उसे अपने लिए तथा (देश-देश के) मानव-समुदायों के लिए अभी भी कुछ करना है। और जिसे अब जागृत होने की चेष्टा करनी होगी वह अंग्रेजियत में रंगी कोई भी ऐसी पूर्वीय जाति नहीं जो पश्चिम की आज्ञाकारिणी शिष्या हो तथा उसकी सफलता और विफलता के चक्र को दुहराना ही जिसके भाग्य में सुनिश्चित हो, अपितु वह प्राचीन एवं स्मरणातीत (भारत) शक्ति है जो अपनी गहनतम आत्मा को फिर से प्राप्त करेगी, ज्योति और शक्ति के परम उद्‌गम की ओर अपना मस्तक पहले से भी ऊँचा उठाकर अपने धर्म के संपूर्ण मर्म तथा विशालतर रूप को खोजने की ओर अभिमुख होगी।**

हमारे पास भारत में राजनीति के अंदर मानसिक आदर्श जैसा कुछ भी नहीं है। हमारे यहाँ समुदायों का विकास उनके अपने मार्गों पर स्वाभाविक एवं स्वैच्छिक रूप से होता गया। वह उतना मानसिक विचार नहीं था जितना कि जीवन को एक विशेष रूप में अभिव्यक्त करने का एक आंतरिक मनोवेग अथवा भावना। जीवन का प्रत्येक ऐसा सामुदायिक स्वरूप – ग्राम, नगर इत्यादि, जो राष्ट्रीय जीवन की इकाई बना, अपनी आंतरिक व्यवस्था में स्वतंत्र छोड़ दिया गया था। केंद्रीय सत्ता ने कभी उसमें हस्तक्षेप नहीं किया।

युरोप के जैसी 'हित' की धारणा भारत में नहीं थी अर्थात् प्रत्येक समुदाय अपने हित के लिए संघर्ष नहीं कर रहा था; बल्कि धर्म की धारणा थी, वह कर्त्तव्य जो व्यक्ति और समुदाय दोनों को व्यापक राष्ट्रीय जीवन में निभाना था। जातीय संगठन भी थे पर आज के जैसे धार्मिक सामाजिक आधार पर आधारित नहीं; वे कमोवेश शिल्प संघ थे, सामुदायिक जीवन के लिए संगठित दल। बौद्ध, जैन आदि के जैसे धार्मिक संप्रदाय भी थे। प्रत्येक अपने-अपने विधान – स्वधर्म – का बिना राज्य के हस्तक्षेप के अनुपालन किया करते थे। राष्ट्रीय भावना को एक अधिक समृद्ध अभिव्यक्ति देने के उद्देश्य से जीवन के ऐसे विभिन्न स्वरूपों के स्वच्छंद विकास की अनुमति देने की आवश्यकता को राज्य स्वीकार करता था।

तब इन दोनों के ऊपर एक केंद्रीय सत्ता थी जिसका कार्य विधि-निर्माण का उतना नहीं था जितना सामंजस्य स्थापित करने और यह देखने का था कि सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा है। उसका प्रशासन सामान्यतया राजा के द्वारा होता था; कुछ मामलों में वह दल का एक निर्वाचित अध्यक्ष भी होता था जैसा कि गौतम बुद्ध के पिता के उदाहरण में। प्रत्येक एक छोटे राज्य अथवा छोटे राज्यों या गणराज्यों के समूह पर शासन करता था। राजा एक विधि-निर्माता नहीं था और न वह सभी संगठनों पर अपना हाथ रखने और उन्हें दबा रखने वाला उनका अध्यक्ष होता था। यदि वह उनके काम में हस्तक्षेप करता तो उसे पदच्युत कर दिया जाता क्योंकि इनमें से प्रत्येक संगठन के अपने नियम होते थे जो लंबे युगों से स्थापित किये हुए होते थे।

'राष्ट्रीय धारणा' भारत के पास कभी नहीं रही। उससे मेरा मतलब राष्ट्र की राजनैतिक धारणा से है। यह आधुनिक उपज है। पर भारत में हमारे पास राष्ट्र की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धारणा अवश्य रही।...

आज के भारतीयों के पास अतीत की ऐसी कोई वस्तु नहीं जिस पर वे गर्व कर सकें। भारतीय संस्कृति आज अत्यंत गर्हित स्थिति में है, जैसा कि जिंजी का किला – एक स्तंभ इधर खड़ा है तो दूसरी छत उधर, और जिसे पहचाना भी नहीं जा सके ऐसा कोई हॉल कहीं और।

प्राचीन भारतीय व्यवस्था जीवन में से विकसित हुई थी, उसमें सभी चीजों और सभी हितों के लिए जगह थी। राजतंत्र था, अभिजात तंत्र था, प्रजातंत्र था; शासन में प्रत्येक हित का प्रतिनिधित्त्व था। जबकि युरोप में पाश्चात्य व्यवस्था का उद्भव मस्तिष्क में से हुआ : वे तर्क का अनुगमन करते हैं और बिना स्वतंत्रता अथवा विभिन्नता के किसी अवसर के सभी बातों को पहले से ही तैयार कर लेना चाहते हैं। यदि यह प्रजातंत्र है तो बस यह खाली प्रजातंत्र ही प्रजातंत्र है – इसमें और किसी चीज के लिए कोई जगह नहीं। वे लचीले हो ही नहीं सकते।

भारत अब पश्चिम की नकल करने की कोशिश कर रहा है। संसदीय सरकार भारत के लिए उपयुक्त नहीं। पर हम हमेशा उसी को उठा लेते हैं जो पश्चिम उतार फेंकता है।...

प्राचीन भारत में आर्य शिक्षण पद्धति

फरवरी, १८३५ का समय था। ऐसा समय जब अंग्रेज पूरे भारत को अपने कब्जे में लेने का प्रयास कर रहे थे। लॉर्ड मैकॉले ने, जो कि एक इतिहासकार और राजनेता थे, ब्रिटिश संसद में एक भाषण दिया था, जिसे साधारणतया 'द मिनिट' के नाम से जाना जाता है। इस भाषण के द्वारा उन्होंने सदियों से तरोताज़ा भारतीय शिक्षा के वृक्ष पर कड़ा प्रहार किया था। उनके शब्द इस प्रकार थे :

''मैंने पूरे भारत का भ्रमण किया है और वहाँ मैंने एक भी आदमी ऐसा नहीं देखा जो कि भिखारी या चोर हो। इस देश में मैंने ऐसी सम्पदा देखी है, ऐसे उदात्त नैतिक मूल्य और ऐसी योग्यता वाले लोग कि मुझे नहीं लगता कि हम इस देश को कभी जीत सकेंगे। हम इस देश को तभी जीत सकेंगे जब हम इसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत, जो कि इसका आधार-स्तम्भ है, को पूरी तरह से नष्ट-भ्रष्ट कर दें। इसलिए मैं यह प्रस्ताव रख रहा हूँ कि हमें इस देश की प्राचीन शिक्षा पद्धति और संस्कृति की जगह अपनी शिक्षा पद्धति और संस्कृति प्रतिस्थापित कर देनी चाहिए। क्योंकि यदि भारतीय लोग यह सोचने लगें कि वह सब जो विदेशी और अंग्रेजी (आँग्ल) है वह अच्छा है और जो कुछ भी उनका अपना है उससे महत्तर है तो वे अपना आत्म-सम्मान और अपनी मूल संस्कृति को खो देंगे और वे वही बन जाएँगे जो हम उन्हें बनाना चाहते हैं – वास्तव में एक पददलित राष्ट्र।''

१. प्राचीन भारतीय सभ्यता की महानता का रहस्य

उस महाविपुल बौद्धिकता, आध्यात्मिकता और अतिमानवीय नैतिक शक्ति का रहस्य क्या था, जिसे हम रामायण और महाभारत में, प्राचीन दर्शन-शास्त्र में, भारत के सर्वोत्कृष्ट काव्य, शिल्प और स्थापत्य में स्पंदित होते हुए देखते हैं? उन अतुलनीय सार्वजनिक कार्यों और निर्माणकला की सफलताओं का, समृद्ध और परमोत्कृष्ट उद्योग-शिल्प का, विज्ञान, विद्वत्ता, न्याय-विधान, तर्कशास्त्र, तत्त्व ज्ञान की महान् विजयों का, उस अनुपम समाज-व्यवस्था का आधार क्या था? क्षत्रिय, सिक्ख और राजपूत की वीरता और आत्म-त्याग का, राष्ट्र की अजेय प्राणशक्ति और कष्ट-सहिष्णुता का आधार क्या था? क्या चीज थी उस सभ्यता के पीछे जो अपने आकार की गौरवपूर्ण विशालता अथवा अपनी सर्वांगपूर्णता में अपना सानी नहीं रखती थी? एक महान् और अद्वितीय अनुशासन के बिना जिसमें आत्मा और मन की एक सर्वांगपूर्ण शिक्षा निहित हो, ऐसा विशाल और चिरस्थाई परिणाम असंभव होता। प्राचीन आश्रमों और विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा-संबंधी बारीक ब्यौरे की बातों में, जहाँ तक कि प्राचीन परंपरा से वे हमें प्राप्त हुई हैं, आर्यों की सफलता का रहस्य ढूँढ़ने का प्रयत्न करना एक भूल होगी। हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि वह सिद्धांत और आधार क्या था जिस पर वे ब्यौरे की बातें प्रतिष्ठित थीं। आर्यों की सफलता का रहस्य हम मनोविज्ञान के एक गंभीर ज्ञान में और बौद्धिक शिक्षण एवं प्रशिक्षण की पद्धतियों में इसके सूक्ष्म प्रयोग में पाएँगे।

२. आधार : ब्रह्मचर्य का अनुशासन

आर्यों की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के मूल में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु थी ब्रह्मचर्य का अनुशासन। बौद्धिक ज्ञान के एक विशाल भवन का निर्माण करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है एक ऐसी सुदृढ़ आधारशिला की जो उसके भार का वहन कर सके। वे शिक्षा-पद्धतियाँ जो मानव प्रकृति के अधूरे ज्ञान से आरंभ करती हैं, सोचती हैं कि जब विद्यार्थी को उन अनेक विविध विषयों संबंधी, जो तत्कालीन मानव संस्कृति के सर्वोत्तम अंग हों, विस्तृत या भली प्रकार चुनी गई ज्ञान की राशि प्रदान कर दी जाती है तो एक संतोषजनक आधार-शिला स्थापित करने का कार्य संपन्न हो जाता है। उनका सिद्धांत सूत्र यह है कि विद्यालय सामग्री प्रदान करता है, उसका उपयोग करना विद्यार्थी का काम है। किंतु यहाँ एक मूलभूत भूल हो रही है। निरी जानकारी बौद्धिक शक्ति का आधार नहीं हो सकती, वह केवल उस सामग्री का एक अंश हो सकती है जिसमें से ज्ञाता ज्ञान का निर्माण करता है, वह केवल नवीन आविष्कार और विशालतर सृजन का आरंभ-बिंदु, केंद्र-बिंदु हो सकती है। वह शिक्षा जो केवल ज्ञान देने तक ही अपने-आपको सीमित रखती है, कोई शिक्षा नहीं है। स्मृति, निर्णय, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण, तर्क आदि विविध मानसिक शक्तियों को, जो ज्ञाता के लिए विचार और ज्ञान के भवन का निर्माण करती हैं, न केवल उपयुक्त और पर्याप्त उपकरणों और सामग्रियों से संपन्न करना होगा अपितु, उन्हें नई सामग्रियाँ प्राप्त करने के लिए और जो सामग्रियाँ प्राप्त हैं उनका अधिक कुशलतापूर्वक उपयोग करने के लिए भी प्रशिक्षित करना होगा। और जिस भवन का उन्हें निर्माण करना है, उसकी एकमात्र आधारशिला हो सकती है शक्ति और ऊर्जा के एक ऐसे भंडार का संचय जो स्मृति, निर्णय और सृजनात्मक शक्ति की चिरवर्धमान क्रिया की माँगों का भार वहन करने के लिए पर्याप्त हो। वह शक्ति कहाँ प्राप्त होगी?

प्राचीन आर्य यह जानते थे कि मनुष्य विश्व-सत्ता से पृथक् नहीं है, अपितु उसका एक समधर्मी अभिन्न अंगमात्र है, जैसे तरंग समुद्र का। एक अनंत ऊर्जा — प्रकृति, माया या शक्ति — विश्व को व्याप्त किये हुए हैं, प्रत्येक नाम और रूप में स्वयं को ढाल रही है और मिट्टी का ढेला, पौधा, कीट, पशु, मनुष्य, सब अपनी बाह्य नाम-रूपात्मक सत्ता में इसी शक्ति के कम या अधिक कार्यक्षम आधारमात्र हैं। हममें से प्रत्येक एक डाइनमो है जिसमें उस शक्ति की तरंगें उत्पन्न और संचित की गई हैं और जिसमें नित्य-निरंतर उनका संरक्षण, व्यय और परिपूर्ति होती रहती है। वही शक्ति जो नक्षत्र और ग्रह में क्रियाशील है, हममें भी क्रियाशील है, और हमारे समस्त विचार और कर्म उसकी लीलामात्र हैं तथा उसकी क्रियाओं के जटिल जाल से उत्पन्न होते हैं। ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य एक आधार के रूप में अपनी क्षमता को बढ़ा सकता है। दूसरी प्रक्रियाएँ भी हैं जिनके द्वारा वह अपने और विश्वात्मक शक्ति के बीच संपर्क की धारा को अवरोधों से मुक्त कर सकता है और उस शक्ति के बृहत्तर-से-बृहत्तर भंडारों को नीचे खींचकर अपनी आत्मा, मस्तिष्क और

शरीर में उनको प्रवाहित करा सकता है। आधार की यह निरंतर उन्नति तथा अनुप्राणित करने वाली शक्ति की क्रिया की मात्रा और सूक्ष्म जटिलता में अधिकाधिक वृद्धि, यही क्रम-विकास का समूचा उद्देश्य है। जब वह शक्ति सर्वोच्च प्रकार की और पूर्णतम मात्रा में होती है, जिसके लिए मानव आधार समर्थ होता है, और जब स्वयं आधार उस शक्ति के प्रबल अंतःप्रवाह और क्रीड़ा को पूर्णतः वहन करने के लिए अभ्यस्त हो जाता है, तब मनुष्य सिद्ध हो सकता है, आप्तकाम या पूर्ण पुरुष बन जाता है, उसका क्रम-विकास पूरा हो जाता है और वह व्यष्टि रूप में उस अधिकतम विकास को पूर्ण कर चुका होता है जिसके लिए मानवजाति सामूहिक रूप में युग-युग से कठिन प्रयास कर रही है।

यदि यह सिद्धांत सत्य हो तो बुद्धि की क्रिया के मूल में स्थित शक्ति हमारे भीतर ही होनी चाहिये और उसमें विशालतर विस्तार एवं समृद्धतर उपयोग की इतनी क्षमता होनी चाहिये जो प्रायः असीम हो। और यह भी एक सच्चा और ठोस सिद्धांत होना चाहिये कि हम उस शक्ति की जितनी अधिक वृद्धि कर सकें और जितना उसे अधिक समृद्ध बना सकें, हमारे मन की क्रियाओं के विस्तार, शक्ति और कार्य की अंतर्निहित संभावना तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली हमारी बौद्धिकता की शक्ति और हमारी उपलब्धियों की विशालता उतनी ही अधिक महान् होगी। यह वह प्रथम सिद्धांत था जिसे प्राचीन आर्यों ने अपनी शिक्षा का मूल आधार बनाया था और ऊर्जा के भंडार की निरंतर वृद्धि की प्राप्ति के लिए जिन मुख्य पद्धतियों का उन्होंने उपयोग किया, उनमें से एक थी ब्रह्मचर्य का अभ्यास।

३. प्रणाली : रेतस् का ओजस में रूपांतर

अंतःस्थित शक्ति को बढ़ाने की और उसे ऐसे उपयोगों में लाने की, जिनसे उसे धारण करने वाले व्यक्ति को या मानवजाति को लाभ हो, पहली और सबसे आवश्यक शर्त है ब्रह्मचर्य का अभ्यास। मनुष्य की सारी शक्ति का एक भौतिक आधार होता है। युरोपीय जड़वाद के द्वारा की गई भूल यह है कि वह भौतिक आधार को ही सब कुछ मान बैठता है और उसे शक्ति का मूल-स्रोत मान बैठता है। शक्ति का मूल स्रोत भौतिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक है, किंतु जिस आधारशिला, नींव पर जीवन और शक्ति प्रतिष्ठित एवं क्रियाशील हैं, वह भौतिक है। प्राचीन हिंदू कारण और प्रतिष्ठा – सत्ता के ऊपरी और निचले छोरों – के बीच के भेद को स्पष्ट रूप से समझते थे। पृथ्वी या स्थूल भौतिक तत्त्व प्रतिष्ठा है और कारण है ब्रह्म या आत्मा। भौतिक तत्त्व का आध्यात्मिक सत्ता में उत्कर्षण ही ब्रह्मचर्य है, क्योंकि दोनों के सम्मिलन से वह शक्ति जो एक (ब्रह्म या आत्मा) से निसृत होकर दूसरे (भौतिक तत्त्व) को उत्पन्न करती है, वृद्धि को प्राप्त होती और स्वयं को चरितार्थ करती है।

यह ब्रह्मचर्य का तात्त्विक सिद्धांत है। इसका क्रियात्मक उपयोग निर्भर होता है शक्ति के मानव आधार की भौतिक और मनोवैज्ञानिक रचना के ठीक-ठीक ज्ञान पर। मूलभूत भौतिक इकाई है रेतस्, जिसमें कि मनुष्य के अंतःस्थित तेजस्, अर्थात्, ऊष्मा और प्रकाश

और विद्युत् शक्ति अंतर्निहित और छिपे पड़े हैं। सारी ऊर्जा रेतस् में निगूढ़ रूप से विद्यमान है। यह शक्ति या तो स्थूल भौतिक रूप में व्यय की जा सकती है या सुरक्षित रखी जा सकती है। समस्त मनोविकार, भोगेच्छा, कामना, इस शक्ति को स्थूल रूप में या एक उत्कृष्ट सूक्ष्मतर रूप में शरीर से बाहर फेंककर उसे नष्ट कर देते हैं। अनैतिक आचरण उसे स्थूल रूप में बाहर फेंक देता है; अनैतिक विचार सूक्ष्म रूप में। दोनों में से प्रत्येक दशा में शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है, और अब्रह्मचर्य जैसे शारीरिक होता है वैसे ही मानसिक और वाचिक भी। इसके विपरीत समस्त आत्म-संयम रेतस् में निहित ऊर्जा की रक्षा करता है और रक्षा के साथ सदा वृद्धि होती है। किंतु भौतिक शरीर की आवश्यकताएँ सीमित हैं और अतिरिक्त शक्ति से अवश्य ही उसके एक संचित भंडार का निर्माण होगा जो भौतिक के अतिरिक्त अन्य किसी उपयोग में प्रयुक्त होना चाहिये। प्राचीन सिद्धांत के अनुसार रेतस् जल है जो प्रकाश और ऊष्मा और विद्युत् से, एक शब्द में, तेजस् से परिपूर्ण है। रेतस् का विशेष संचय सर्वप्रथम ऊष्मा या तपस् में परिवर्तित होता है, जो सारे शरीर को उद्दीप्त करता है, और इसी कारण आत्म-संयम और तपस्या के सभी रूप तपस् या तपस्या कहलाते हैं क्योंकि वे ऊष्मा या उस प्रेरक शक्ति को उत्पन्न करते हैं जो शक्तिशाली कर्म और सिद्धि का मूल-स्रोत है; द्वितीयतः वह वास्तविक तेजस्, अर्थात्, प्रकाश में परिवर्तित होता है जो समस्त ज्ञान का मूल उद्गम रूप-शक्ति है; तृतीयतः वह विद्युत् में रूपांतरित होता है जो सारे शक्तिशाली कर्म का आधार है, चाहे वह कर्म बौद्धिक हो या शारीरिक। और फिर विद्युत् में निहित है ओजस् या प्राण-शक्ति जो आकाश से उत्पन्न होने वाली मूलभूत शक्ति है। रेतस् जल से तपस्, तेजस्, और विद्युत् में तथा विद्युत् से ओजस् में परिष्कृत होकर शरीर को शारीरिक बल, ऊर्जा और मस्तिष्क को शक्ति से भर देता है और अपने अंतिम स्वरूप ओजस् के रूप में ऊर्ध्वगामी होकर मस्तिष्क में पहुँचता है तथा उसे उस मूल ऊर्जा से अनुप्राणित कर देता है जो जड़-तत्त्व का सबसे परिष्कृत रूप है तथा आत्मा के सबसे अधिक निकट है। वह ओजस् ही है जो आध्यात्मिक शक्ति या वीर्य को उत्पन्न करता है जिसके द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान, आध्यात्मिक प्रेम और श्रद्धा, आध्यात्मिक बल को प्राप्त करता है। इसका निष्कर्ष यह है कि हम ब्रह्मचर्य के द्वारा तपस्, तेजस्, विद्युत् और ओजस् के भंडार को जितना ही अधिक बढ़ा सकें, उतना ही अधिक हम स्वयं को शरीर, हृदय, मन और आत्मा के कार्यों के लिए पूर्ण एवं विशुद्ध शक्ति से भर देंगे।

४. तीन गुण व सत्त्व का विकास

मानव आत्मा-संबंधी यह दृष्टि ही वह समूचा ज्ञान नहीं था जिस पर प्राचीन हिंदुत्व ने अपने शिक्षा-संबंधी अनुशासन को प्रतिष्ठित किया था। इसके अतिरिक्त उसका यह भी मत था कि समस्त ज्ञान भीतर है और शिक्षा का कार्य उसे बाहर से शनैः-शनैः मन के भीतर डालना नहीं, वरन् जागृत कर भीतर से बाहर प्रकट करना है। मानव प्रकृति की रचना प्रकृति के तीन तत्त्वों – सत्त्व, रजस् और तमस् – से हुई है; ये विश्वात्मक कर्म के बोध,

क्रियाशीलता और निष्क्रियतामूलक तत्त्व हैं, जो अपने असंख्य रूपों में से एक में ज्ञान इच्छा-आवेग और अज्ञान के रूप में प्रकट होते हैं। तमस् शारीरिक और मानसिक प्रकृति की जड़ता या निष्क्रियता है जो अंतःस्थित ज्ञान को धूमिल कर देती है तथा अज्ञान, मानसिक जड़ता, मंदता, विस्मृति, अध्ययन के प्रति अरुचि, वस्तुओं को समझने और उनके भेद को पहचानने की असमर्थता को जन्म देती है। रजस् एक अनियंत्रित क्रिया है जो तीव्र कामना, आसक्ति, पूर्वधारणा, मानसिक पक्षपात तथा मिथ्या विचारों के द्वारा ज्ञान को आच्छादित कर देती है। सत्त्व एक प्रकाश है जो भीतर छिपे हुए ज्ञान को उद्घाटित करता और उसे उपरिपृष्ठ पर ले आता है, जहाँ अवलोकन उसे ग्रहण कर सकता है और स्मृति अंकित कर सकती है। ज्ञानात्मक शक्ति की रचना-संबंधी इस धारणा ने – तमस् को हटाना, रजस् को संयमित करना और सत्त्व को जागृत करना – इसे शिक्षक की मुख्य समस्या बना दिया। उसे विद्यार्थी को भीतर से प्राप्त होने वाले ज्ञान के प्रकाश के प्रति ग्रहणशील बनने के लिए प्रशिक्षित करना होता था। रजस् को संयत करने का कार्य साधित किया जाता था एक कठोर, नैतिक अनुशासन के द्वारा, जो बौद्धिक स्वेच्छाचारिता और अहंकार तथा तीव्र मनोवेगों के आवरण से मुक्त एक शांत, प्रसन्न, ग्रहणशील मानसिक स्थिति को उत्पन्न करता है, – यही था ब्रह्मचारी का वह प्रसिद्ध अनुशासन जो आर्य संस्कृति और आर्य नैतिकता का आधार था; और शिक्षा ग्रहणकाल में जब कि शिष्य को मानव के द्वारा अब तक पहले से ही अधिकृत की जा चुकी सुनिश्चित ज्ञान की राशि या यथार्थ विचार स्पष्ट किये और कंठस्थ कराए जाते थे, उस समय शिक्षक के प्रति कठोर, मानसिक अनुवर्तन के द्वारा मिथ्या विचारों के हस्तक्षेप को दूर करने का प्रयत्न किया जाता था। तमस् के बहिष्कार का कार्य साधित किया जाता था नैतिक पवित्रता के अनुशासन के द्वारा जो शिष्य की मन-प्राण शरीरात्मक प्रकृति में तेजस् और विद्युत् की शक्ति को जागृत करता था और तपस्या की शक्ति के द्वारा उसे मानसिक शक्ति और स्पष्ट ज्ञान एवं विचार को धारण करने का अभ्यस्त बनाता था। ज्ञान को जागृत करने का कार्य पुनरावृत्ति, ध्यान और विचार-तर्क की त्रिविध पद्धति के द्वारा सक्रिय रूप से साधित किया जाता था। आवृत्ति का प्रयोजन था मन के संस्कारग्राही भाग को शब्द (अर्थात्, विचारों को प्रकट करने वाले शब्दों) से परिपूर्ण कर देना, ताकि अर्थ का स्वतः एवं भीतर से उदय हो : कहने की आवश्यकता नहीं कि एक यंत्रवत् पुनरावृत्ति संभवतः वह परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकती थी। होनी चाहिये वह प्रसन्न, अविचल ग्रहणशीलता और शब्द या वस्तु पर मन के चिंतनशील भाग की वह तल्लीनता जो प्राचीन भारतीयों के अनुसार ध्यान का अर्थ था। किसी भाषा का अध्ययन करते हुए हम सबने यह अनुभव किया है कि एक ग्रंथ को समझने का कठोर प्रयत्न करते समय जो कठिनाइयाँ असमाधेय प्रतीत होती हैं वे पुस्तक को थोड़ी देर के लिए अपने मन से दूर कर देने पर बिना पुस्तक या अध्यापक की सहायता के ही अचानक विलीन हो जाती हैं और स्पष्ट बोध का उदय होता है। हममें से अनेकों ने

कुछ समय के विराम के पश्चात् किसी भाषा या विषय के अध्ययन को पुनः आरंभ करने में भी यह देखकर विचित्रता का अनुभव किया है कि हमने जब उसे आरंभ किया था तब की अपेक्षा अब हम उसे कहीं अधिक अच्छी तरह समझ लेते हैं, ऐसे शब्दों का अर्थ जान लेते हैं जिनसे पहले कभी हमारा परिचय नहीं था और हम उन वाक्यों को भी समझ सकते हैं जो अध्ययन स्थगित करने से पूर्व हमारी बुद्धि को चकरा देते। इसका कारण यह है कि हमारे अंतःस्थित ज्ञाता का ध्यान उस विषय में एकाग्र हो जाता है और वह विराम काल में उस विषय के संबंध में ज्ञान के अंतःस्थित स्रोत से ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में व्यस्त रहता है। यह अनुभव केवल उन्हीं लोगों के लिए संभव होता है जिनकी प्रकृति का सात्त्विक या प्रकाशात्मक तत्त्व बौद्धिक स्पष्टता और गंभीर अध्ययन के अभ्यास के द्वारा प्रबल रूप में जागृत हो चुका है अथवा सचेतन प्रयत्नपूर्वक या अनजाने ही समुचित रूप में कार्य करने के लिए प्रशिक्षित हो चुका है। सात्त्विक विकास की सर्वोच्च पराकाष्ठा तब होती है जब हम प्रायः या सदा ही बाह्य साधनों – अध्यापक या पुस्तक, व्याकरण और शब्दकोष – के बिना काम चला सकते और किसी विषय को अधिकांश में या पूर्णतः अपने भीतर से ही सीख सकते हैं। किंतु यह योगाभ्यास के सफल अनुसरण के द्वारा केवल योगी के लिए ही संभव है।

५. आर्य पद्धति की उपलब्धियाँ

स्पष्टता को न खोते हुए जितने संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है, हम उन प्रमुख मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का निरूपण कर चुके हैं जिनके आधार पर प्राचीन भारतीयों ने अपनी शिक्षा-पद्धति को प्रतिष्ठित किया था। ब्रह्मचर्य के अनुशासन के द्वारा उन्होंने उस सारी शक्ति को जिसे धारण और प्रयुक्त करने की क्षमता शरीर रखता है और जो शरीर की भौतिक क्रियाओं के बाद बचाई जा सकती है, मस्तिष्क की सेवा हेतु प्रस्तुत कर दिया था। इस प्रकार वे न केवल मेधा या ग्रहणशक्ति को, धी या विचारात्मक धारणा, स्मृति और सृजनात्मक बौद्धिक शक्ति की, जिनसे मिलकर स्मृति, आविष्कार तथा सर्वांगीण और विश्लेषणात्मक निर्णय की त्रिविध शक्ति बनती है, सूक्ष्मता और क्षिप्रता को पुष्ट करते हैं, अपितु आत्मसात्, संचय और नवसृजन की मानसिक क्रियाओं की तीव्रता में, और विस्तार में भी अत्यधिक वृद्धि करते थे। यही कारण है स्मरण-शक्ति के, कई विभिन्न विषयों को समझने की शक्ति के और सृजनात्मक कर्म की बहुमुखीनता के उन आश्चर्यजनक भीम कार्यों का जिन्हें करने में पाश्चात्य इतिहास में केवल कुछ ही असाधारण मेधावी पुरुष समर्थ हुए हैं, किंतु जो प्राचीन भारत में एक सामान्य और साधारण बात थी। श्री ग्लैडस्टोन आश्चर्यजनक स्मरणशक्ति वाले व्यक्ति समझे जाते थे क्योंकि वे बतलाए गए किसी भी स्थल से आरंभ कर जहाँ तक आवश्यकता होती धाराप्रवाह, होमर के पूरे महाकाव्य 'इलियड' को कंठस्थ सुना सकते थे; किंतु प्राचीनकाल के किसी ब्राह्मण के लिए यह न तो किसी असाधारण और न आश्चर्यजनक, वरन् एक तुच्छ और सीमित क्षमता का ही

प्रमाण होता। एक एरिस्टोफेनीस की बहुमुखी प्रतिभा की या एक हर्बर्ट-स्पेंसर के बौद्धिक कार्यों के विशाल क्षेत्र की युरोप में खूब ही प्रशंसापूर्ण या आश्चर्यजनक शब्दों में चर्चा हुई है; किंतु प्राचीन भारत में प्रचलित सामान्य पाठ्यक्रम की व्यापक विशालता प्रत्येक विद्यार्थी के लिए थी, न कि गिने-चुने असाधारण विद्यार्थियों के लिए, और इस पाठ्यक्रम का अर्थ आधुनिक शिक्षा-योजना की भाँति अनेक विषयों का थोड़ा-थोड़ा आस्वादनमात्र ही नहीं, अपितु सब विषयों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना था। काव्य-सृजन की प्रत्येक दिशा में सर्वोच्च संसिद्धि के साधक एक कालिदास की कृतियों की मौलिकता युरोपीय बुद्धि को यहाँ तक संदेहजनक प्रतीत हुई कि छंदमाधुरी के उस शक्तिशाली अधीश्वर को खंड-खंड करके कालिदासत्रय के रूप में सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी बत्तीस वर्ष के छोटे-से जीवन में शंकर के द्वारा दर्शनशास्त्र में प्राप्त की गई उपलब्धि उसके समकक्ष है और हमारे अपने ही समय में समस्त संभव आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव पर श्रीरामकृष्ण द्वारा प्राप्त किये गए सार्वभौम प्रभुत्व की तुलना में वह अत्यंत तुच्छ है। इस प्रकार के उदाहरण उतने सामान्य रूप में नहीं पाए जाते जितने कि दूसरे प्रकार के, क्योंकि विशुद्ध सृजनात्मक प्रतिभा सर्वसामान्य वस्तु नहीं है; किंतु युरोप में अकेले एक आधुनिक उदाहरण को छोड़कर उनका सर्वथा अभाव है। युरोप के सर्वोच्च सृजनात्मक प्रतिभा संपन्न पुरुष स्वयं को सीमित करते हुए एक ही बौद्धिक क्षेत्र के अकेले या अधिक-से-अधिक दो भागों में विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न कर महत्ता के शिखर पर पहुँचे हैं; जब कभी बहुमुखी प्रयास किया है तो वह विशालता के आगे उच्चता का बलिदान करके ही किया गया है। किंतु भारत में सर्वोच्च प्रतिभासंपन्न पुरुष ही सबसे अधिक बहुमुखी संसिद्धि वाले व्यक्ति हुए हैं और उन्होंने अपनी उच्चता को एक इंच भी खोए या अपनी सृजनात्मक शक्ति की तीव्रता का कण-भर भी त्याग किए बिना, सरलतापूर्वक, सुस्थिर चरणों से, सुनिश्चित अधिकारपूर्वक संसिद्धि के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में पदार्पण किया है। इस सहज और अचूक प्रदीप्ति का, जो ब्रह्मचर्य के द्वारा उत्पन्न अमोघ शक्ति की चरम परिणति है, कारण वह आत्म-साधना थी, जो 'सत्य' या आंतरिक प्रकाश का विकास करती थी। यह आंतरिक प्रकाश ज्ञान प्राप्ति को तथा अन्य समस्त बौद्धिक क्रियाओं को सरल, सहज-स्वाभाविक, क्षिप्र, सुनिश्चित, तथा शरीर या मस्तिष्क के लिए अपेक्षाकृत कम थकाने वाला बना देता है। इन्हीं दो वस्तुओं में कार्यों की बौद्धिक उपलब्धि का रहस्य निहित है, ब्रह्मचर्य और सात्त्विक विकास ने भारत के मस्तिष्क का निर्माण किया था : योग के द्वारा उसे पूर्ण बनाया गया था।

हमारा यह मंतव्य नहीं है कि ठीक वही प्राचीन शिक्षण-पद्धति अपने बाह्य आकार-प्रकार में पुनःप्रतिष्ठित की जानी चाहिए, — यह एक ऐसी माँग है जो पुरातन के प्रगाढ़ प्रेमियों द्वारा प्रायः की जाती है। बाह्य आकार-प्रकार की कई बातें आधुनिक युग की आवश्यकताओं से मेल नहीं खातीं। किंतु उस शिक्षा-पद्धति के मूलभूत सिद्धांत सभी काल के लिए सत्य हैं

और उसके अंगभूत अनुशासन का स्थान केवल किसी और भी अधिक प्रभावशाली अनुशासन की खोज के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है, और युरोपीय शिक्षा के पास हमें देने के लिए वैसा कोई भी अनुशासन नहीं है। प्राचीन शिक्षा-पद्धति के स्वरूप और मनोवैज्ञानिक विचारों को प्रकट करना तथा हमारे पूर्वजों की गौरवपूर्ण उपलब्धि के साथ उस पद्धति के अनिवार्य कारण-कार्य संबंध की ओर संकेत करना ही इन निबंधों का उद्देश्य रहा है। उस पद्धति के सिद्धांत किस प्रकार पुनः व्यवहार में लाए जा सकते या अधिक पूर्ण बनाए जा सकते हैं और किस प्रकार किसी हद तक उनका स्थान एक गंभीरतर मनोविज्ञान तथा एक और भी अधिक प्रभावशाली अनुशासन के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, यह एक पृथक् विवेचना के योग्य विषय है।

भारत में आम तौर पर विद्यार्थियों में महान क्षमताएँ हैं पर शिक्षा की प्रणाली इन क्षमताओं को दबा देती है और नष्ट कर देती है। कक्षा की प्रणाली को ही देखो – विद्यार्थियों को वहाँ कितने ही घंटे जबरन बैठना पड़ता है और अपनी पुस्तकों पर टकटकी लगाए रखना पड़ता है; यह सब बहुत हानिकर है। आवश्यकता है एक वातावरण की – ज्ञान प्राप्त करने के एक व्यापक वातावरण की। विद्यार्थियों को उसे आत्मसात् करना चाहिए, अपनी अंतःप्रवृत्तियों का पता लगाना चाहिए और उन्हीं मार्गों पर विकास करना चाहिए।... शिक्षा की उचित प्रणाली के अधीन व्यक्ति की और राष्ट्र की, दोनों की आवश्यकताओं को समायोजित किया जा सकता है।... यदि उसे वास्तव में कोई प्रगति करनी है तो जाति की यही भावी शिक्षा होगी।

भारतीय बनाम पाश्चात्य संस्कृति

केवल भारत ही, चाहे यहाँ ज्ञान और शक्ति का कितना भी क्षय या ह्रास क्यों न हो गया हो, आध्यात्मिक आदर्श के मूल स्वरूप के प्रति निष्ठावान् बना हुआ है। केवल भारत ही अभी तक हठपूर्वक डटा हुआ है। भारत के आलोचक कहते हैं कि टर्की, चीन और जापान इस मूर्खता से ऊपर उठ गए हैं जिससे उनका मतलब यह होता है कि ये देश युक्तिवादी तथा जड़वादी बन गए हैं। भारत के कुछ एक व्यक्तियों ने या किसी छोटे से वर्ग ने जो कुछ भी किया हो, फिर भी केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो समष्टि-रूप में अपने उपास्य देव का त्याग करने या युक्तितंत्र, व्यवसायतंत्र एवं अर्थतंत्र-रूपी प्रबल प्रभुत्वशाली प्रतिमाओं, पश्चिम के सफल लौह-देवताओं के आगे घुटने टेकने से अब तक भी इन्कार करता आ रहा है। वह उनसे कुछ प्रभावित अवश्य हुआ है, पर अभी तक हारा नहीं है। उसकी गंभीरतर प्रज्ञा ने नहीं, वरन् उसके स्थूल मन ने ही बाध्य होकर स्वतंत्रता, समानता, प्रजातंत्र आदि अनेक पश्चिमी विचारों को स्वीकार किया है तथा अपने वेदांतिक सत्य के साथ उनका समन्वय किया है; परंतु उनके पाश्चात्य रूप से उसे पूर्ण संतोष नहीं हुआ है और अपनी विचारधारा में वह पहले से ही उन्हें एक भारतीय रूप — जो कि एक आध्यात्मभावित रूप हुए बिना नहीं रह सकता — प्रदान करने के लिए यत्नशील है। अंग्रेजी विचारों एवं संस्कृति का अनुकरण करने की प्रथम बाढ़ समाप्त हो गई थी। किंतु एक और उससे भी भयानक चीज हाल ही में शुरु हुई है, और वह है सामान्यतया युरोप महाद्वीप की संस्कृति का और विशेषकर क्रांतिकारी रूस की स्थूल एवं उग्र प्रवृत्ति का अनुकरण करने की बाढ़। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि प्राचीन हिंदू धर्म का उत्तरोत्तर पुनरुत्थान हो रहा है तथा आध्यात्मिक जागृति एवं इसके महत्त्वपूर्ण आन्दोलनों का प्रभाव विपुल रूप से फैल रहा है। इस अनिश्चित स्थिति का परिणाम दो में से कोई एक हो सकता है। या तो भारत इतनी पूरी तरह से तर्कवादी एवं व्यवसायवादी बन जाएगा कि वह पहचानने में ही नहीं आयेगा और तब वह भारत ही नहीं रहेगा या फिर वह एक नई विश्व-व्यवस्था का नेता बनेगा, अपने दृष्टांत तथा सांस्कृतिक प्रभावधारा के द्वारा पश्चिम की नई प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता हुआ मानवजाति को अध्यात्ममय बनाएगा। यही एकमात्र, मूल और मार्मिक विचारणीय प्रश्न है कि क्या भारत विजय लाभ करेगा और वहाँ पश्चिम के अनुकूल नवीन रूपों का सृजन करेगा, अथवा, क्या युरोपीय युक्तिवाद एवं व्यवसायवाद भारतीय ढंग की संस्कृति को सदा के लिए मिटा देंगे?

तो फिर यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि भारत सभ्य है या नहीं, वरन् यह कि उसकी सभ्यता का निर्माण करने वाले उद्देश्य को मानव-संस्कृति का नेतृत्व करना है या पुराने युरोप के बौद्धिक उद्देश्य को अथवा नए युरोप के जड़वादी उद्देश्य को नेतृत्व करना है? क्या आत्मा, मन और शरीर ा सामंजस्य अपने-आपको हमारी भौतिक प्रकृति के उस स्थूल नियम पर प्रतिष्ठित करेगा जो केवल बुद्धि के द्वारा नियंत्रित होगा या जिसे अधिक-से-अधिक एक क्षीण एवं निष्प्रभाव आध्यात्मिक प्रभा का स्पर्श प्राप्त होगा, या फिर, क्या आत्मा की प्रबल शक्ति नेतृत्व करेगी जो बुद्धि, मन और देह की हीनतर शक्तियों को एक उच्चतम सुसंगति, एक विजयी चिर-विकसनशील संतुलन के हित अधिक उदात्त प्रयत्न करने के लिए बाध्य करेगी?

किसी भी देश में बच्चों को जो सबसे अच्छी शिक्षा दी जा सकती है वह इसमें निहित है कि उन्हें यह सिखाया जाए कि उनके देश का सच्चा स्वरूप और निजी विशेषताएँ क्या हैं, जगत् में उनके राष्ट्र को कौन-सा कर्त्तव्य पूरा करना है और पार्थिव सामंजस्य में उसका सच्चा स्थान क्या है। उसमें दूसरे राष्ट्रों की भूमिका का विस्तृत ज्ञान भी जोड़ देना चाहिये, लेकिन नकल के भाव से रहित और अपने देश की प्रतिभा को आँखों से ओझल किए बिना।

भारत को अपनी रक्षा करनी होगी और इसके लिए उसे अपने सांस्कृतिक विधि-विधानों का इस प्रकार नया निर्माण करना होगा कि वे उसके प्राचीन आदर्श को अधिक तेजस्वी, अधिक घनिष्ठ एवं पूर्ण रूप में प्रकट करें। फिर उसे अपने आक्रमण के द्वारा इस प्रकार उन्मुक्त ज्योति की लहरों को आत्मप्रसारी विजयी दौरों के रूप में उस समस्त जगत् के ऊपर फैला देना चाहिये जिसे एक बार उसने सुदूर युगों में अधिकृत किया था या कम-से-कम प्रकाश प्रदान किया था। संघर्ष की प्रतीति को कुछ काल के लिए स्वीकार करना होगा, तब तक के लिए जब तक कि विरोधी संस्कृति का आक्रमण जारी है। पर, क्योंकि वस्तुतः यह (संघर्ष) पश्चिम की उन्नत विचारधारा से उद्‌भूत होने वाली सभी श्रेष्ठ वस्तुओं के अभ्युदय में सहायक होगा, अतएव इसके परिणामस्वरूप एक उच्चतम स्तर के सामंजस्य का सूत्रपात हो जाएगा और साथ ही एकत्व की तैयारी भी आरंभ हो जाएगी।

सब त्रुटियों के रहते और पतन के होते हुए भी भारतीय संस्कृति का मूलभाव, उसके केंद्रीय विचार, उसके श्रेष्ठ आदर्श आज भी केवल भारत के लिए ही नहीं अपितु समस्त मानवजाति के लिए संदेश लिए हुए हैं। और हम भारतवासी तो यह मानते हैं कि वह भाव, विचार एवं आदर्श नई आवश्यकता एवं भावना के संपर्क में आकर अपने अंदर से हमारी समस्याओं के ऐसे समाधान निकाल सकते हैं जो पश्चिमी स्त्रोतों से उधार लिए गए पुराने समाधानों के समान ही नहीं बल्कि उनसे भी कहीं अधिक अच्छे होंगे।

उसने (युरोपीय सभ्यता ने) मानवता का नैतिक स्वर नीचा कर दिया है।... पुराने लोगों ने अपने आदर्शों से जुटे रहने की कोशिश की और उन्हें और ऊपर उठाने का प्रयास किया, जबकि युरोप ने (प्रथम विश्व) युद्ध के पश्चात् अपने सारे आदर्श खो दिए। लोग सनकी, स्वार्थी वगैरह बन गए हैं।... मैं समझता हूँ यह सब वाणिज्यवाद की वजह से हुआ।

उधर, एशिया ने युरोप पर जो भौतिक आक्रमण किये हैं उनमें भारत ने, अपने आध्यात्मिक उद्देश्य के प्रति सच्चा रहने के कारण, कभी भाग नहीं लिया; उसका तरीका सदैव संसार को अपने विचारों की धारा से अंदर-ही-अंदर सींचने का रहा है, आज भी हम वैसे ही तरीके को पुनः प्रगति करते हुए देखते हैं।

मैं भारत की जनता के संपर्क में आया हूँ और मैंने पाया है कि वे लोग युरोप के उसी वर्ग के लोगों से बेहतर हैं। वे युरोप के श्रमिक वर्गों से श्रेष्ठतर हैं। वहाँ के लोग अधिक कुशल हो सकते हैं, पर वह बाह्य कारणों की वजह से।... आयरलैंड का डाक्टर, जो हमारे जेलखाने में (अलीपुर में) था, सोच ही नहीं पाता था कि कैसे ये नौजवान आदमी जो इतने विनम्र और आकर्षक थे, क्रांतिकारी हो सकते थे। मैंने तो एक साधारण अपराधी को भी बिल्कुल मानवीय और युरोप के उसके समकक्ष से बेहतर पाया।

एक शिष्य : क्या भारत के लोग और लोगों से अधिक आध्यात्मिक हैं?

नहीं, ऐसा नहीं है। कोई भी राष्ट्र पूर्ण रूप से आध्यात्मिक नहीं है। भारतीय और लोगों से अधिक आध्यात्मिक नहीं हैं। पर भारतीय जाति के पीछे अतीत के आध्यात्मिक प्रभाव का वास है।

नए सत्य के अन्वेषक, अधिकाधिक, भारत को अपना आध्यात्मिक निवासस्थान बना रहे हैं अथवा वे अपनी अधिकांश प्रेरणा के लिए इसके ऋणी हैं या कम-से-कम इसके प्रकाश को स्वीकार करते हैं तथा इसका प्रभाव ग्रहण करते हैं। यह परिवर्तन यदि अपना वेग बढ़ाता चला जाए (और पीछे लौटने की संभावना तो नहीं के बराबर ही है), तो पूर्व और पश्चिम के बीच की आध्यात्मिक और बौद्धिक खाई पट जाएगी और यदि न भी पटी तो कम-से-कम उस पर एक सेतु अवश्य बँध जाएगा और भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों का समर्थन और भी सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित हो जाएगा।

सर जान उड्रफ ने एक ईसाई धर्मप्रचारक का कथन उद्धृत किया है जो यह देखकर चकित है कि ''किस हदतक जर्मनी और अमरीका की, यहाँ तक कि इंगलैंड की भी धार्मिक मान्यताओं में हिंदू सर्वेश्वरवाद प्रविष्ट होना आरंभ हो गया है'' और इसके बढ़ते हुए प्रभाव को वह आगामी संतति के लिए एक आसन्न ''संकट'' समझता है। उन्होंने एक और लेखक का उद्धरण दिया है जो यहाँ तक कहता है कि युरोप के समस्त उच्चतम दार्शनिक चिंतन का मूलस्रोत ब्राह्मणों की पूर्ववर्ती विचारधारा ही है। इतना ही नहीं, वह तो यह भी कहता है कि बौद्धिक समस्याओं के जो भी समाधान आधुनिक युग में किये गए हैं वे सभी पूरब के विचारकों को पहले से ही ज्ञात थे तथा उसके ग्रंथों में पाए जा सकते हैं।

भारतीय संस्कृति की प्रतिरक्षा

भारतीय सभ्यता को मुख्य रूप से उसकी सहस्रों वर्षों की संस्कृति और महानता के द्वारा परखना होगा न कि उसकी थोड़ी सी सदियों की अज्ञानता और दुर्बलता के द्वारा। किसी संस्कृति की परीक्षा तीन कसौटियों से करनी चाहिये, प्रथम, उसकी मूल भावना से, दूसरे उसकी सर्वोत्तम प्राप्तियों से और अंत में, उसकी अपेक्षाकृत दीर्घजीवन और नवीकरण की शक्ति से एवं अपने-आपको जाति की चिरंतन आवश्यकताओं के नए रूपों के अनुकूल बनाने की सामर्थ्य से।

अल्पकालीन अवनति के युग की दरिद्रता, विशृंखलता एवं अव्यवस्था में, एक विद्वेषपूर्ण साक्षी की दृष्टि उस रक्षक शिवमय आत्मा को देखने या पहचानने से इन्कार करती है जो इस सभ्यता को आज तक जीवित रखे हुए है और इसके शाश्वत् आदर्श की महत्ता के ओजस्वी और सजीव पुनरुदय की आशा बँधाता है। इसके दबाए जाने पर प्रतिक्षेप की सुदृढ़ और नमनीय शक्ति, आवश्यकतानुसार अपने को गढ़ लेने की इसकी पुरानी अपरिमेय शक्ति फिर से अपने कार्य में लग गई है; यहाँ तक कि यह पहले की तरह केवल अपना बचाव ही नहीं कर रही है बल्कि साहसपूर्वक आक्रमण भी कर रही है। केवल बचाव ही नहीं बल्कि विजय एवं प्रभुत्व इसके भविष्य की प्रतिज्ञा है।

अब तक आध्यात्मिकता का अर्थ रहा है – मन और प्राण से महान् किसी वस्तु को अंगीकार करना, अपनी सामान्य मानसिक और प्राणिक प्रकृति के परे विद्यमान एक शुद्ध, महान् और दिव्य चेतना के लिए अभीप्सा करना, मनुष्य की अंतरात्मा का हमारे निम्न भागों की क्षुद्रता और बंधनग्रस्तता में से निकलकर उसके अंदर छुपी हुई एक महत्तर वस्तु की ओर मुड़ना और ऊपर उठना। यही कम-से-कम वह विचार, वह अनुभव है जो भारतीय विचारधारा का सारमर्म है।

परंतु युक्तिपंथी इस अर्थ में आत्मा में विश्वास नहीं करता; प्राण-शक्ति, मानवसुलभ संकल्पबल और तर्कबुद्धि उसके सर्वोच्च देवता हैं। तो फिर आध्यात्मिकता को – जब उस चीज को ही अस्वीकार कर दिया गया है जिस पर यह आश्रित है, तब कहीं अधिक सीधी और युक्तिसंगत बात यही होती कि इस शब्द का ही त्याग कर दिया जाता – एक और ही अर्थ देना होगा, – इसका अर्थ होगा एक ऐसा उत्कट आवेग, हृद्‌गत भावों का तथा संकल्पशक्ति और तर्कबुद्धि का एक ऐसा प्रयास जिसका लक्ष्य हो सीमित, न कि अनंत, अनित्य पदार्थ न कि नित्य तत्त्व, नश्वर जीवन न कि कोई ऐसी महत्तर सद्वस्तु जो जीवन की स्थूल घटनाओं से अतीत है और इन्हें आश्रय देती है। हमें बताया जाता है कि जो वेदना और विचारणा होमर के आदर्श मस्तिष्क को कुरेदती और कुतरती हैं उसी में युक्तिसंगत और ओजपूर्ण आध्यात्मिकता निहित है।

अज्ञान और दुःख पर विजय पाने वाले बुद्ध की शांति और करुणा, 'सनातन' के साथ योग में समाहित और विचार-शक्ति की जिज्ञासाओं से ऊपर, परम ज्योति के साथ तादात्म्य में उठे हुए मनीषी की ध्यान-धारणा, शुद्ध अंतःकरण के प्रेम के द्वारा विश्व से परे और विश्व में फैले हुए 'प्रेम' के साथ एकीभूत संत का आनंदातिरेक, अहंकारमय कामना और वासना से ऊपर उठकर दिव्य विश्वव्यापी 'संकल्प-शक्ति' की निर्व्यक्तिकता में पहुँचे हुए कर्मयोगी की संकल्प-शक्ति, – ये चीजें, जिन्हें भारत ने सर्वोच्च मूल्य प्रदान किया है और जो उसकी महान्-से-महान् आत्माओं का परम ध्येय रही हैं, युक्तिसंगत और ओजपूर्ण नहीं हैं।

क्या हम यों कहें कि अब होमर, शेक्सपियर, राफेल, स्पिनोजा, कांट, शार्लमाइन (Charlemagne), अब्राहम लिंकन, लेनिन और मुसोलिनी केवल महान् कवियों और कलाकारों या विचार और कर्म के महारथियों के रूप में ही नहीं बल्कि आध्यात्मिकता के हमारे यथार्थ वीरों और आदर्श-पुरुषों के रूप में हमारे सामने आएँगे, बुद्ध भी नहीं, ईसा, चैतन्य, सेंट फ्रांसिस और रामकृष्ण भी नहीं। ये या तो अर्धबर्बर पूर्वीय लोग हैं अथवा पूर्वीय धर्म के स्त्रियोचित उन्माद से प्रभावित व्यक्ति हैं।

भारतीय मानस पर इस बात का वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा कि एक सुसंस्कृत बुद्धिशाली पुरुष पर उस समय पड़ता है जब उससे यह कहा जाता है कि अच्छी रसोई बनाना, अच्छे ढंग से कपड़े पहनना, अच्छा मकान बनाना, अच्छी तरह पढ़ाना आदि सच्चा सौंदर्य है तथा इनका अनुशीलन ही यथार्थ, विवेकयुक्त एवं ओजपूर्ण सौंदर्य-भावना है, और साहित्य, स्थापत्य, मूर्तिविद्या एवं चित्रकला तो बस व्यर्थ में कागज काला करना, पागलों की तरह पत्थर खुरचना और निरर्थक कपड़े पर रंग पोतना है;

तब तो वोबान (Vauban), पेस्तोलोत्सी (Pestolozzi), डॉ.पार (Dr. Parr), वाताल (Vatal) और बो ब्रूमेल (Beau Brummel) ही कलात्मक सृजन के सच्चे नायक हैं न कि दा वैंसी (Da Vinci), आंजेलो (Angelo), सोफोक्लिज (Sophocles), दांते (Dante), शेक्सपियर या रोदैं (Rondin)।

भारतीय दर्शन के क्रियात्मक मूल्य के विरुद्ध अभियोग लगाने का कारण यह है कि यह जीवन, प्रकृति और प्राणगत इच्छाशक्ति से तथा मनुष्य के इहलौकिक पुरुषार्थ से मुँह मोड़ता है। यह जीवन को कुछ भी मूल्य नहीं प्रदान करता; यह प्रकृति के अध्ययन की ओर नहीं बल्कि उससे दूर ले जाता है। यह समग्र इच्छाप्रधान व्यक्तित्व का उन्मूलन करता है; यह जगत् के मिथ्यात्व, ऐहिक लाभों के प्रति अनासक्ति, अतीत और अनागत जीवनों की अनंत शृंखला की तुलना में वर्तमान जीवन की तुच्छता की शिक्षा देता है।

यह एक दुर्बलताकारी तत्त्वज्ञान है जो निराशावाद, वैराग्य, कर्म और पुनर्जन्म की मिथ्या धारणाओं के साथ उलझा हुआ है,– ये सभी विचार परम आध्यात्मिक वस्तु, संकल्प प्रधान व्यक्तित्व के लिए घातक हैं।

यह *(उपर्युक्त)* भारतीय संस्कृति और दर्शन के विषय में भद्दे ढंग से अतिरंजित एवं मिथ्याभूत धारणा है। परंतु अपने सार और भावना में यह उन धारणाओं का बहुत सही निरूपण है जो युरोपीय मन ने भूतकाल में, कभी तो अज्ञानवश और कभी प्रमाण की अवज्ञा करते हुए, भारतीय विचार और संस्कृति के स्वरूप के विषय में निर्मित की हैं। यहाँ तक कि कुछ समय के लिए तो यह शिक्षित भारतीयों के मन पर इस भ्रांति की एक गहरी छाप जमाने में भी सफल हुई।

यह कहना कि भारतीय दर्शन ने लोगों को प्रकृति के अध्ययन से विमुख किया है, सफेद झूठ है और यह भारतीय सभ्यता के भव्य इतिहास की अवहेलना है। यदि यहाँ प्रकृति का अर्थ भौतिक प्रकृति हो तो स्पष्ट सत्य यह है कि आधुनिक युग के पूर्व किसी भी राष्ट्र ने इतनी दूर तक और वैसी अपूर्व सफलता के साथ वैज्ञानिक खोज नहीं की जितनी कि प्राचीन भारत ने।

यह एक ऐसा सत्य है जो इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है और जिसे सभी लोग पढ़ सकते हैं; भारत के विख्यात विद्वानों और वैज्ञानिकों ने इसे अत्यंत ओजस्वी रूप में और अपरिमित विस्तार के साथ प्रतिपादित किया है, परंतु युरोप के जिन मनीषियों ने इस विषय में तुलनात्मक अध्ययन करने का कष्ट किया था वे भी इसे जानते और मानते थे।

इतना ही नहीं कि गणित, ज्योतिष, रसायन, चिकित्साशास्त्र और शल्यतंत्र में, प्राचीन काल में भौतिक ज्ञान की जितनी भी शाखाओं का अनुशीलन किया जाता था उन सभी में भारत अग्रगण्य था, अपितु यूनानियों ही के समान वह भी अरबवासियों का गुरु था जिनसे युरोप ने वैज्ञानिक जिज्ञासा की अपनी खोई हुई आदत पुनः प्राप्त की और वह आधार उपलब्ध किया जिसके सहारे आधुनिक विज्ञान अपने मार्ग पर अग्रसर हुआ।

अनेक दिशाओं में भारत को ही खोज का प्रथम श्रेय प्राप्त हुआ,– इसके अनेकानेक दृष्टांतों में से हम यहाँ केवल दो ज्वलंत दृष्टांत लेते हैं, एक तो है गणित में दशमलव-पद्धति और दूसरा यह ज्ञान कि ज्योतिष में पृथ्वी एक गतिशील पिंड है, – गैलिलियो से सदियों पहले एक भारतीय ज्योतिषी ने कहा था **'चला पृथ्वी स्थिरा भाति'** अर्थात् पृथ्वी गतिशील है और वह केवल देखने में ही स्थिर प्रतीत होती है। यह महान् विकास एक ऐसे राष्ट्र में, जिसके विद्वान् और विचारक दार्शनिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर प्रकृति के अध्ययन से पराङ्मुख हो जाते हों, कदाचित् ही संभव हो पाता।

भारतीय मन की एक विलक्षण विशेषता थी जीवन की वस्तुओं की ओर सूक्ष्म मनोयोग, इसके प्रमुख तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षण करने की प्रवृत्ति, इसके प्रत्येक विभाग को क्रमबद्ध करना तथा उसमें एक प्रकार के विज्ञान, एक शास्त्र सुप्रतिष्ठित नियम एवं योजना की स्थापना करना। यह कम-से-कम वैज्ञानिक प्रवृत्ति का एक अच्छा आरंभ है और किसी ऐसी संस्कृति का चिह्न नहीं जो केवल निःसार दर्शन की ही रचना करने में समर्थ हो।

यह सर्वथा सत्य है कि तेरहवीं सदी के आसपास भारतीय विज्ञान की प्रगति एकाएक बंद हो गई और अंधकार तथा अकर्मण्यता के एक युग ने इसे आगे बढ़ने या वैज्ञानिक ज्ञान के विशाल आधुनिक विकास में तुरंत भाग लेने से रोक दिया। परंतु इसका कारण यह नहीं था कि दार्शनिक प्रवृत्ति कुछ बढ़ गई थी या अनुदार हो चली थी और उसने राष्ट्र के मन को भौतिक प्रकृति से विमुख कर दिया था। यह तो नई बौद्धिक क्रियाशीलता के सामान्य विराम का एक भाग था, क्योंकि दर्शन का विकास भी लगभग उसी समय बंद हो गया।

आध्यात्मिक दर्शन की रचना के लिए जो अंतिम महान् एवं मौलिक प्रयत्न किये गए, उनका काल अंतिम महान् एवं मौलिक वैज्ञानिकों के नामों से केवल दो-एक ही सदी बाद का है। यह भी सत्य है कि भारतीय दर्शन ने मुख्यतया भौतिक प्रकृति के ही सत्यों के प्रकाश द्वारा जगत् के सत्य का अध्ययन करने का यत्न नहीं किया जैसा कि आधुनिक दर्शन ने विफलता के साथ किया है।

परंतु इस प्राचीन ज्ञान का आधार था आंतरिक परीक्षणात्मक मनोविज्ञान और गंभीर चैत्य विज्ञान, जो भारत का अपना विशिष्ट बल है, – पर मन का तथा अपनी आंतरिक शक्तियों का अध्ययन भी, निश्चय ही, प्रकृति का अध्ययन है, – और इसमें उसकी सफलता भौतिक ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक थी। ऐसा अध्ययन किये बिना वह रह ही नहीं सकता था, क्योंकि वह जगत् के आध्यात्मिक सत्य की ही खोज कर रहा था; और इस आधार के बिना किसी वस्तुतः महान् एवं स्थाई दर्शन की रचना करना संभव भी नहीं है।

यह भी सही है कि अपनी संस्कृति में उसने दर्शन के सत्य और मनोविज्ञान तथा धर्म के सत्य में जो सामंजस्य जिस मात्रा में स्थापित किया उसे वह उतनी मात्रा में भौतिक प्रकृति के सत्य तक विस्तारित नहीं कर सका। भौतिक विज्ञान तब तक उन महान् सार्वभौम सिद्धांतों पर नहीं पहुँचा था जो ऐसे समन्वय को पूर्णतः संभव बना देते और आज बना भी रहे हैं।

तथापि आदिकाल से ही, अत्यंत प्राचीन वैदिक विचार-युग से ही, भारतीय मन ने यह जान लिया था कि आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक सत्ता में एक ही सर्वसामान्य नियम और शक्तियाँ कार्य करती हैं। उसने 'सभी चीजों में प्राण की विद्यमानता' का सिद्धांत भी खोज निकाला था, प्रकृति में वनस्पति और पशु के रूप से मनुष्य के रूप की ओर आत्मा के विकास की प्रस्थापना की थी, दार्शनिक अंतर्ज्ञान और आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक अनुभव के आधार पर उन सब अनेक सत्यों का प्रतिपादन किया था जिन्हें आधुनिक विज्ञान ज्ञान-प्राप्ति के अपने निजी दृष्टिकोण से पुनः प्रस्थापित कर रहा है। ये चीजें भी सारहीन और अनुर्वर तत्त्वज्ञान के परिणाम नहीं थीं; नाभि पर दृष्टि जमाने वाले निस्तेज स्वप्नदर्शियों के आविष्कार नहीं थीं।

इसी प्रकार, यह कहना कि भारतीय संस्कृति जीवन को कुछ भी महत्त्व नहीं देती, पार्थिव लाभों से विलग करती और वर्तमान जीवन की तुच्छता पर जोर देती है, एक मिथ्या वर्णन है। युरोपवासियों की ये आलोचनाएँ पढ़कर कोई यह सोचेगा कि समस्त भारतीय विचार में बौद्ध धर्म की शून्यवादी विचारधारा तथा शंकर के अद्वैतात्मक मायावाद को छोड़कर और कुछ भी नहीं है और समस्त भारतीय कला, साहित्य और सामाजिक चिंतन वस्तुओं की असारता एवं मिथ्यात्व के प्रति अपने वैराग्य के निरूपण के सिवा कुछ नहीं है।

यह सही है कि औसत युरोपवासियों ने भारत के विषय में जो बातें सुन रखी हैं अथवा इसकी विचारधारा में युरोपीय विद्वान् को जो चीजें अत्यधिक पसंद आती या प्रभावित करती हैं वे यही हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि ये ही भारत की संपूर्ण चिंतनधारा हैं, चाहे इनका प्रभाव कितना ही अधिक क्यों न रहा हो।

भारत की प्राचीन सभ्यता ने अपना आधार अत्यंत स्पष्ट रूप में चार मानवीय पुरुषार्थों पर रखा था; उनमें से पहला था कामना और उपभोग, दूसरा, मन और शरीर के भौतिक, आर्थिक तथा अन्य उद्देश्य एवं आवश्यकताएँ, तीसरा, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का नैतिक आचार-व्यवहार एवं यथार्थ धर्म, और अंतिम, आध्यात्मिक मुक्ति; काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष। संस्कृति और सामाजिक संगठन का काम था इन विषयों में मनुष्य का मार्गदर्शन करना, इनकी पूर्ति और पुष्टि करना तथा उद्देश्यों और बाह्य आचारों में किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करना।

अत्यंत विरले व्यक्तियों को छोड़कर शेष सबके लिए मोक्ष से पहले तीन सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति कर लेना आवश्यक था; जीवन के अतिक्रमण से पहले जीवन की परिपूर्णता प्राप्त करना आवश्यक था। पितृ-ऋण, समाज-ऋण और देव-ऋण की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी; पृथ्वी को उसका उचित भाग और सापेक्ष जीवन को उसकी क्रीड़ा का अवसर देना जरूरी था, यद्यपि यह माना जाता था कि इसके परे ही स्वर्ग का महान् सुख या निरपेक्ष की शांति विद्यमान है। सर्व-साधारण को गुहा और तपोवन में भाग जाने का उपेदश नहीं दिया जाता था।

प्राचीन भारत की सुव्यवस्थित जीवनधारा और उसके साहित्य का जीवंत वैचित्र्य किसी नितांत पारलौकिक प्रवृत्ति के साथ मेल नहीं खाते। संस्कृत का विपुल साहित्य मानवजीवन का ही साहित्य है; यह ठीक है कि कुछ एक दार्शनिक और धार्मिक कृतियाँ जीवन के त्याग का प्रतिपादन करती हैं, किंतु ये भी साधारणतः इसके मूल्य की अवज्ञा नहीं करतीं।

यद्यपि भारतीय मन ने आध्यात्मिक मुक्ति को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया – और प्रत्यक्षवादी मनोवृत्ति वाला व्यक्ति चाहे कुछ भी क्यों न कहे, किसी-न-किसी प्रकार की आध्यात्मिक मुक्ति ही मानव-आत्मा की उच्चतम संभावना है – तथापि उसकी रुचि केवल इसी में नहीं थी। वह नीति, विधि-विधान (Law), राजनीति, समाज, विभिन्न विज्ञान, कला-कौशल और शिल्पविद्या, मानव जीवन से संबंध रखने वाली सभी चीजों की ओर आध्यात्मिक मुक्ति के समान ही ध्यान देता था। इन विषयों पर उसने खूब गहराई और छानबीन के साथ विचार किया और अधिकार के साथ ओजस्वी भाषा में इनका निरूपण किया।

एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा, शुक्रनीति राजनैतिक और प्रशासनिक प्रतिभा का कितना उत्कृष्ट स्मारक है ! एक महान् सभ्य जाति के क्रियात्मक संगठन का कैसा दर्पण है ! भारतीय कला सदा देवालयों की ही वस्तु नहीं रही, – यह ऐसी इस कारण प्रतीत होती थी कि इसका महत्तम कार्य देवालयों और गुहा-मंदिरों में ही बचा रहा; किंतु पुराना साहित्य इस बात का साक्षी है और राजपूत तथा मुगल चित्रकारियों से भी हमें पता चलता है कि भारतीय कला राजदरबार और नगर की तथा जाति के जीवन और सांस्कृतिक विचारों की सेवा में भी उतनी ही तत्पर थी जितनी कि मठ-मंदिरों और उनके उद्देश्यों की सेवा में।

भारत में स्त्रियों और पुरुषों को जो शिक्षा दी जाती थी वह आधुनिक युग से पहले की और किसी भी शिक्षा-प्रणाली से अधिक समृद्ध, व्यापक और बहुमुखी थी। जो लेख इन बातों को प्रमाणित करते हैं वे आज सुलभ हैं और उन्हें जो चाहे पढ़ सकता है। अब समय आ गया है जब कि यह तोता-रटन कि भारतीय सभ्यता अपने स्वरूप से ही अव्यावहारिक, दार्शनिक, निवृत्तिमार्गी और जीवन-विरोधी है, बंद हो जानी चाहिए और इसे अपना स्थान एक सच्चे और समझदारी के साथ किये गए मूल्यांकन को दे देना चाहिए।

परंतु यह पूर्णतः सत्य है कि भारतीय संस्कृति ने मनुष्य के अंदर की उस चीज को, जो लौकिक एषणा के ऊपर उठ जाती है, सदैव सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया है; इसने परमोच्च और कष्टसाध्य स्व-अतिक्रमण के लक्ष्य को मानव-प्रयास के शिखर के रूप में माना है। इसकी दृष्टि में आध्यात्मिक जीवन बाहरी शक्ति-सामर्थ्य और उपभोग के जीवन से अधिक उदात्त वस्तु है, चिंतनशील व्यक्ति कर्मी की अपेक्षा और आध्यात्मिक मनुष्य विचारक की अपेक्षा महान् है। ईश्वर में निवास करने वाली आत्मा केवल बाह्य मन में निवास करने वाली या केवल मनोमय और प्राणमय देह की माँगों और उसके सुखों के लिए जीने वाली आत्मा से अधिक पूर्ण है।

प्रकारात्मक पश्चिमी और प्रकारात्मक भारतीय मनोवृत्ति में जो भेद है वह इसी बात में है। पश्चिम ने धार्मिक मनोवृत्ति अभ्यास के द्वारा प्राप्त की है, यह उसके स्वभाव का अंग नहीं है और इसे उसने सदा कुछ शिथिलता के साथ ही धारण किया है। भारत सदैव उन पीछे की ओर अवस्थित लोकों में विश्वास करता आया है, जिनका यह स्थूल जगत् एक बाह्य कक्ष-मात्र है।

उसने सदा ही हमारे अंदर एक आत्मा को देखा है जो मानसिक और प्राणिक सत्ता से महान् है, हमारे अहं से भी महान् है। उसने सदैव, उस निकटस्थ एवं अंतर्यामी सनातन के आगे अपने हृदय और मस्तिष्क को झुकाया है जिसमें इस कालगत जीव का अस्तित्व है और मनुष्य के अंदर स्थित जिस सनातन की ओर यह जीव उत्तरोत्तर आत्म-अतिक्रमण के लिए मुड़ता है। अद्‌भुत गायक और भगवती माता के भाव-विभोर भक्त एक बंगाली कवि की यह भावना कि–

''एमन मानव जमीन रइलो पतित, आबाद करले फलतो सोना।''

अर्थात् – ''आहा, कैसा समृद्ध है यह मनुष्य-रूपी खेत जो यहाँ बंजर पड़ा है ! यदि इसे जोता जाए तो यह सुनहली फसल से लहलहा उठेगा,'' – मानवजीवन के संबंध में वास्तविक भारतीय भाव को व्यक्त करती है।

जीवन के संबंध में निराशावाद ही भारतीय धार्मिक मनोवृत्ति का एकमात्र स्वर नहीं है; इसके अत्यंत प्रचलित रूप जीवन को भगवान् की लीला समझकर इसे स्वीकार करते हैं और हमारी वर्तमान अवस्थाओं के परे प्रत्येक मनुष्य के लिए भगवान् के शाश्वत सामीप्य की संभावना देखते हैं। भगवान् की ओर ज्योतिर्मय आरोहण को सदा ही एक ऐसी परिणति समझा जाता था जो मनुष्य की पहुँच के भीतर ही है। इसे जीवनसंबंधी विषादजनक या निराशावादी सिद्धांत नहीं कहा जा सकता।

वैराग्य का थोड़ा-बहुत अंश हुए बिना कोई भी संस्कृति महान् एवं पूर्ण नहीं हो सकती; क्योंकि वैराग्य का अर्थ है आत्मत्याग और आत्मविजय जिनके द्वारा मनुष्य अपने निम्न आवेगों का दमन करके अपनी प्रकृति के महत्तर शिखरों की ओर आरोहण करता है। भारतीय वैराग्यवाद न तो दुःख-कष्ट की विषादपूर्ण शिक्षा है और न अस्वास्थ्यकर दुःखदायी साधना के द्वारा शरीर का दुःखदायी निग्रह है, बल्कि वह तो आत्मा के उच्चतर हर्ष एवं पूर्ण स्वामित्व की प्राप्ति के लिए एक उदात्त प्रयत्न है।

आत्मविजय का महान् हर्ष, आंतरिक शांति का निश्चल हर्ष, परम आत्म-अतिक्रमण का शक्तिशाली हर्ष आदि उसके अनुभव का सार-तत्त्व हैं। देह द्वारा विमोहित या बाह्य जीवन तथा उसके चंचल प्रयत्न एवं अस्थाई सुखों में अति आसक्त मन ही वैरागी के प्रयत्न की श्रेष्ठता या आदर्शवादी उच्चता से इंकार कर सकता है। किंतु सभी आदर्शों को अतियों और पथभ्रष्टताओं का शिकार भी होना पड़ता है।

वैराग्यवाद एक धर्मांध आत्म-यंत्रणा का, प्रकृति के कठोरतापूर्ण दमन, जगत् से ऊबकर पलायन या जीवन के संघर्ष के आलस्यपूर्ण त्याग और हमारे पुरुषत्व से जिस प्रयास की माँग की जाती है उससे दुर्बलतापूर्ण निवृत्ति का रूप ग्रहण कर सकता है। जब इसका अनुसरण केवल वे अपेक्षाकृत थोड़े से लोग ही नहीं करते जिन्हें इसके लिए पुकार प्राप्त हुई है, बल्कि जब इसका उपदेश इसके चरम रूप में सभी को दिया जाता है और हजारों अयोग्य व्यक्ति इसका अवलंबन करते हैं, तब इसका मूल्य गिर सकता है, जाली सिक्के बढ़ सकते हैं और समाज की जीवन-शक्ति अपनी नमनशीलता और आगे बढ़ने की क्षमता गँवा सकती है।

यह दावा करना निरर्थक होगा कि भारत में ऐसे दोष एवं अनिष्ट परिणाम नहीं उत्पन्न हुए। वैराग्य के आदर्श को मैं मानवजीवन की समस्या का अंतिम हल नहीं मानता। परंतु इसके अतिरंजित रूपों के पीछे भी प्राणात्मवादी अतिरंजनों की अपेक्षा, जो कि पश्चिमी संस्कृति के उस छोर के दोष हैं, कहीं महत्तर भावना विद्यमान है।

जो हो, वैराग्यवाद और मायावाद के प्रश्न गौण विषय हैं। जिस बात पर बल देने की जरूरत है वह यह है कि भारतीय आध्यात्मिकता अपने महत्तम युगों में तथा अपने अंतरतम अर्थ में कोई क्लांतिपूर्ण वैराग्य या रूढ़िभूत संन्यासधर्म नहीं रही है, बल्कि वह कामना और प्राणिक संतुष्टि के जीवन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्थिरता, महत्ता, शक्ति, प्रकाश, भागवत उपलब्धि, दृढ़प्रतिष्ठ शांति और आनंद की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिए मानव आत्मा के एक उच्च प्रयास के रूप में रही है।

भारतीय संस्कृति ने मानव जीवन की महान् क्रीड़ा के वैभव को न तो विकृत किया न क्षीण; इसने हमारी प्रकृति की प्रवृत्तियों को कभी अवसन्न या पंगु नहीं बनाया। बल्कि, सामंजस्य और नियंत्रण के एक विशेष सिद्धांत के अधीन, इसने उन्हें उनका पूर्ण और प्रायः ही उनका चरम मूल्य प्रदान किया। मनुष्य को अपने मार्ग में समस्त अनुभव की थाह लेने, अपने चरित्र और कर्म को विशाल स्वातंत्र्य और वीरोचित परिमाण प्रदान करने और जीवन को प्रचुरता के साथ रंग-रूप, सौंदर्य और सुखभोग से भर देने की छूट दी गई थी। भारतीय विचार के इस जीवन-संबंधी पहलू की छाप महाकाव्यों और उच्च कोटि के साहित्य पर खूब उभरी हुई दिखाई पड़ती है।

निःसंदेह, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आँख या दिमाग रखने वाला कोई व्यक्ति रामायण और महाभारत को, नाटकों, साहित्यिक महाकाव्यों तथा आख्यायिकाओं को और संस्कृत तथा बाद की भाषाओं में विरचित अतिविपुल सूक्ति-काव्य और गीति-काव्य को (अन्य सांस्कृतिक कृतियों और सामाजिक एवं राजनैतिक शास्त्र और चिंतन की अपार राशि की हम यहाँ कुछ भी चर्चा नहीं करते) पढ़कर भी इस विशालता, समृद्धि और महत्ता को न देख पाया हो। उसने अवश्य ही देखने वाली आँख या समझने वाली बुद्धि के बिना ही पढ़ा होगा; सच पूछा जाए तो बहुत से विरोधी आलोचकों ने तो अध्ययन या अनुशीलन किया ही नहीं है, बल्कि केवल अपनी पूर्वकल्पित धारणाओं को ही तीव्र या उच्छृंखल तथा अज्ञानयुक्त विश्वास के साथ उछाल फेंका है।

उग्र आत्म-रक्षा का अर्थ है इस आंतरिक एवं सुदूरगामी दृष्टि से नवसृजन करना और इसके लिए जहाँ इस बात की जरूरत है कि जो कुछ हमारे पास है उसे एक अधिक सार्थक एवं शक्तिशाली रूप दिया जाए, वहाँ यह भी आवश्यक है कि जो कुछ हमारे नये जीवन के लिए उपयोगी है और जिसे हमारी आत्मा के साथ समस्वर किया जा सकता है उसे प्रभावशाली रूप में आत्मसात् करने की छूट भी हमें प्राप्त हो। युद्ध, आघात और संघर्ष अपने-आप में कोई निरर्थक संहार नहीं होते; वे तो काल के महान् लेन-देन के लिए एक उग्रतापूर्ण आवरण होते हैं।

यहाँ तक देखने में आता है कि अत्यंत सफल विजेता भी पराजित से बहुत कुछ ग्रहण करता है और यदि कभी वह उस बहुत कुछ को हथिया लेता है तो बहुत बार वह चीज उसे अपना बंदी भी बना लेती है। पश्चिमी आक्रमण पूर्वीय संस्कृति की रीति-नीतियों को ध्वस्त करने तक ही सीमित नहीं है; इसके साथ ही, पश्चिम अपनी संस्कृति को समृद्ध बनाने के लिए पूर्व की अधिकांश अमूल्य संपदा को चुपचाप तथा व्यापक और सूक्ष्म रूप में हथियाता भी जा रहा है।

अतएव अपने अतीत के गौरवमय वैभव को सामने लाकर उसे युरोप और अमरीका में उनकी ग्रहण-शक्ति के अनुसार यथेष्ट रूप में फैला देने से भी हमारी रक्षा नहीं होगी। वह उदारता हमारी संस्कृति पर आक्रमण करने वालों को समृद्ध और सशक्त बनाएगी, किंतु हमारे अंदर तो वह केवल एक ऐसा आत्म-विश्वास पैदा करने में ही सहायक होगी जिसे यदि एक महत्तर सृजन करने के लिए संकल्प-शक्ति का रूप न दे दिया गया तो वह निरर्थक और यहाँ तक कि पथभ्रष्ट करने वाला ही होगा। हमें तो नई एवं अधिक शक्तिशाली रचनाओं को लेकर इस आक्रमण का सामना करना होगा; वे रचनाएँ आक्रमण का केवल निवारण ही नहीं करेंगी बल्कि जहाँ तक संभव तथा मानव जाति के लिए हितकर होगा वहाँ तक वे युद्ध को आक्रमणकर्ता के देश में ले जाएँगी।

इसके साथ ही, जो कुछ हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल तथा भारतीय भावना के अनुरूप है उस सबको हमें एक प्रबल सृजनशील परिपाचन के द्वारा ग्रहण कर लेना होगा। कुछ दिशाओं में, जो अभी बहुत ही कम हैं, हमने ये दोनों प्रयत्न आरंभ कर दिये हैं। अन्य दिशाओं में हमने केवल एक विवेकहीन मिश्रण की ही सृष्टि की है या फिर जल्दबाजी से भरा, भद्दा और बिना पचाया हुआ अनुकरण भर किया है और अभी भी कर रहे हैं। अनुकरण, आक्रांता के यंत्रों और उपायों का स्थूल और अस्तव्यस्त अनुकरण कुछ काल के लिए उपयोगी हो सकता है, किंतु अपने-आप में यह पराजय स्वीकार करने का केवल एक अन्य प्रकार ही है।

केवल उपयोग करना ही पर्याप्त नहीं; उसे सफलता के साथ आत्मसात् करने एवं भारतीय भावना के अनुकूल बनाने की भी आवश्यकता है। आज यह समस्या एक तात्कालिक कठिनाई वाली है एवं अतिभीमकाय रूप में उपस्थित है और हमने अभी तक इस पर बुद्धिमत्ता एवं अंतर्दृष्टि से विचार नहीं किया है। आज इस बात की और भी तीव्र आवश्यकता है कि हम स्थिति के प्रति जागरूक होकर एक मौलिक विचारधारा एवं एक ऐसी सचेतन क्रिया के साथ इसका प्रतिकार करें जिसके पीछे एक ज्ञानपूर्ण एवं ओजस्वी अंतर्दृष्टि विद्यमान हो और साथ ही जिसकी प्रणाली भी सुनिश्चित हो। एक शाश्वत देह में नए उपादान का प्रभुत्वपूर्ण एवं लाभप्रद परिपाचन सदा ही प्राचीन काल में भारतीय प्रतिभा का अपना विशिष्ट गुण रहा है।

भारत की अंतरात्मा और उसका मिशन

भारत की अंतरात्मा का जन्म – उसके गौरवशाली अतीत के कुछ दृश्य

कुछ एक गद्यात्मक उपनिषदों में, एक दूसरा स्पष्ट कथात्मक और परंपराप्राप्त तत्त्व भी है; वह परमोच्च ज्ञान के लिए आध्यात्मिक जिज्ञासा और आतुरता की उस असाधारण हलचल और प्रवृत्ति का एक जीता-जागता चित्र, संक्षिप्त झाँकियों के रूप में ही सही, हमारे सामने उपस्थित करता है जिसने कि उपनिषदों की रचना को संभव बनाया। प्राचीन जगत् के दृश्य इने-गिने पृष्ठों में हमारे सामने जीवंत-जागृत रूप में उपस्थित हैं, आगंतुक की परीक्षा लेने और उसे शिक्षा देने के लिए ऋषिगण अपने कुंजों में तैयार बैठे हैं; राजकुमार, विद्वान् ब्राह्मण और महान् कुलीन भूमिपति ज्ञान की खोज में यत्र-तत्र विचरण कर रहे हैं; रथ पर सवार राजपुत्र और एक दासी का अवैध पुत्र किसी ऐसे व्यक्ति को खोज रहे हैं जो अपने अंदर ज्योतिर्मय विचार और ईश्वरीय ज्ञान का शब्द धारण किये हुए हो; विशिष्ट और विख्यात व्यक्ति, जनक और सूक्ष्मचेता अजातशत्रु, गाड़ीवाला (सयुग्वा) रैक्व, सत्यवीर, शांत और व्यंग्यप्रिय याज्ञवल्क्य जो पहले अपने दोनों हाथ में बिना आसक्ति के सांसारिक धन-संपत्ति और आध्यात्मिक ऐश्वर्य को आयत्त कर लेते हैं और अंत में अपना सब धन-वैभव पीछे छोड़कर एक अनिकेत संन्यासी की तरह पर्यटन के लिए निकल पड़ते हैं; देवकी के पुत्र कृष्ण जिन्हें 'घोर' नामक ऋषि के एक ही शब्द के श्रवणमात्र से तुरंत सनातन पुरुष का ज्ञान हो गया; आश्रम, उन राजाओं के दरबार जो अध्यात्मान्वेषी और अध्यात्मचिंतक भी थे, महान् यज्ञीय परिषदें जहाँ ऋषिगण एकत्र होते और परस्पर तुलना करके अपने ज्ञान की परीक्षा करते थे। और हम देखते हैं कि किस प्रकार भारत की अंतरात्मा का जन्म हुआ और किस प्रकार इस महान् जन्म-गान का आविर्भाव हुआ जिसमें यह अपने पार्थिव आधार से उड़ान भरकर आत्मा के परमोच्च स्वर्ग में पहुँची। वेद और उपनिषद् केवल भारतीय दर्शन और धर्म के ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय कला, काव्य और साहित्य के भी पर्याप्त उद्गम-स्थान हैं। उनमें जो अंतरात्मा, स्वभाव एवं आदर्श मन रूपायित तथा व्यक्त हुआ उसी ने आगे चलकर महान् दर्शन-शास्त्रों का सुघड़ निर्माण किया, धर्म का ढाँचा तैयार किया, महाभारत और रामायण में इसके शौर्यपूर्ण यौवन-काल का इतिवृत अंकित किया, इसकी मनुष्यता की प्रौढ़ावस्था के अत्युत्कृष्ट प्राचीन काल में अक्लांत भाव से बौद्धिक रूप धारण किया, विज्ञान के क्षेत्र में इतने सारे मौलिक अंतर्ज्ञानात्मक तथ्यों को प्रकट किया, सौंदर्यात्मक, प्राणिक और ऐंद्रिय अनुभूति की इतनी समृद्ध छटा उत्पन्न की, तंत्र और पुराण में इसके आध्यात्मिक और अंतरात्मिक अनुभव को नया रूप प्रदान किया, रंग और रेखा की श्री-सुषमा में अपने-आप को उँडेल दिया, इसकी विचारधारा और अंतर्दृष्टि को प्रस्तर और काँसे में खोदा और ढाला, पीछे की भाषाओं में आत्म-अभिव्यंजना की नई प्रणालियों में अपने-आपको ढाल दिया और वही अब ग्रहण से मुक्त होने के बाद पुनः उदित हो रही है, भेद में भी सदैव पहले जैसी रहती हुई नए जीवन और नए सृजन के लिए तैयार हो रही है।

भारतीय सभ्यता अपने परिपक्व रूप में विकसित होकर एक समृद्ध, तेजस्वी और अद्वितीय वस्तु बन गई थी। जहाँ उसने हमारी दृष्टि को एक परम आध्यात्मिक उत्कर्ष के अंतिम उच्च दृश्य से परिपूरित किया था, वहाँ उसने धरातल पर के जीवन की भी उपेक्षा नहीं की थी। वह नगर के व्यस्त जीवन और ग्राम दोनों के बीच, जंगल की स्वाधीनता एवं निर्जनता और ऊपर छाए हुए

अंतिम असीम आकाश के बीच निवास करती थी। जीवन और मृत्यु के बीच दृढ़तापूर्वक विचरण करते हुए उसने इन दोनों के परे दृष्टि डाली और अमरत्व की ओर जाने वाले सैंकड़ों राजपथ बना दिये। वह बाह्य प्रकृति को विकसित करके अंतरात्मा की ओर खींच ले जाती थी; वह जीवन को आत्मा में उठा ले जाने के लिए समृद्ध करती थी। ऐसे आधार पर प्रतिष्ठित और इस प्रकार प्रशिक्षित होकर प्राचीन भारत-जाति संस्कृति और सभ्यता के आश्चर्यजनक शिखरों तक पहुँच गई थी; उसने एक श्रेष्ठ, सुप्रतिष्ठित, विशाल और शक्तिशाली व्यवस्था और स्वतंत्रता के साथ जीवनयापन किया; उसने महान् साहित्य का, विद्याओं, कलाओं, शिल्पों और उद्योगों का विकास किया; वह ज्ञान और संस्कृति के, दुष्प्राप्य महत्ता और वीरता के, दया, उपकारशीलता, मानव-सहानुभूति और एकता के संभवनीय उच्चतम आदर्शों तथा उत्कृष्ट अभ्यास तक ऊपर उठी; उसने अद्‌भुत आध्यात्मिक दर्शनों का एक अंतःप्रेरित आधार स्थापित किया; उसने बाह्य प्रकृति के रहस्यों की छानबीन की और अंतः-सत्ता के निस्सीम और आश्चर्यजनक सत्यों को ढूँढ़ निकाला तथा जीवन में उतारा; उसने आत्मा की थाह ली तथा जगत् को समझा और अधिकृत किया। जैसे-जैसे उसकी सभ्यता समृद्ध और जटिल होती गई वैसे-वैसे वह अवश्य ही अपनी पुरातन व्यवस्था की प्रथम महान् सरलता को खोती गई। बुद्धि उच्च और विशाल हो गई, पर अंतर्ज्ञान क्षीण हो गया अथवा उसने संतों, सिद्धों और गुह्यवेत्ताओं के हृदयों में शरण ली। केवल प्राण और मन की सब चीजों में ही नहीं बल्कि आत्मा की चीजों में भी वैज्ञानिक प्रणाली, यथार्थता और क्रम-व्यवस्था पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया जाने लगा; अंतर्ज्ञान की अबाध धारा को कटे-छँटे मार्गों में प्रवाहित होने के लिए बाध्य किया गया। समाज अधिक कृत्रिम और जटिल बन गया, वह पहले जैसा स्वतंत्र और उदात्त नहीं रहा; वह व्यक्ति के लिए बंधनस्वरूप ही अधिक था और उसकी आध्यात्मिक क्षमताओं के विकास का क्षेत्र कम। पुराने उत्कृष्ट सर्वांगीण सामंजस्य के स्थान पर उसके मूल अवयवों में से किसी एक या दूसरे पर अतिरंजित बल दिया जाने लगा। अर्थ और काम को, कुछ दिशाओं में, धर्म की बलि देकर भी विकसित किया गया। धर्म की रूपरेखाओं को इतनी कठोर बँधी-बँधाई चीजों से भर दिया गया और उनकी उस पर छाप डाल दी गई कि वह आत्मा की स्वतंत्रता के मार्ग में रोड़ा बन गया। आध्यात्मिक मोक्ष का अनुसरण जीवन के विरोध में किया जाने लगा, न कि इसकी पूर्ण विकसित परिणति और उच्च शिखर के रूप में। फिर भी भारत की आत्मा को अनुप्राणित एवं समस्वरित करने तथा जीवित रखने के लिए प्राचीन ज्ञान का मजबूत आधार अक्षुण्ण रहा। जब बिगाड़ आया एवं क्रमिक मंद विघटन होने लगा, जब समाज का जीवन पथराकर जड़ीकृत अज्ञान और अस्त-व्यस्तता में जा गिरा तब भी प्राचीन आध्यात्मिक लक्ष्य एवं परंपरा भारतवासियों को उनके बुरे-से-बुरे दिनों में भी सरल और मृदुल बनाने तथा उनकी रक्षा करने के लिए बची रही। कारण, हम देखते हैं कि यह जीवनदायिनी शक्ति की नई तरंगों और उच्च विस्फोटों के रूप में जाति को पुनः-पुनः वेगपूर्वक आप्लावित करती रही या फिर आध्यात्मीकृत मन या हृदय की प्रखर लपटों के रूप में फूटती रही जैसे कि आज भी यह एक महान् नवजागरण की प्रेरणा देने के लिए अपने पूरे बल के साथ एक बार फिर उठ रही है।

एक आध्यात्मिक आदर्श हमेशा भारत का विशेष विचार और उसकी अभीप्सा रहा है। परंतु काल की प्रगति और मानवजाति की आवश्यकता एक नए दिग्विन्यास और आदर्श के एक और रूप की माँग करती है। काल-पुरुष के प्रयोजन के लिए पुराने रूप और तरीके पर्याप्त नहीं हैं। भारत को भविष्य में जो महान् कदम उठाने हैं उनके लिए वे संकीर्ण मार्ग पर्याप्त नहीं हैं। न ही हमारी आध्यात्मिकता एक ऐसे जीवन की आध्यात्मिकता है जो वृद्ध, जगत् से थका हुआ तथा भ्रम के भार से लदा हुआ और भगवान् की महान् सृष्टि की दुःखद निरर्थकता है।

हमारा आदर्श वह आध्यात्मिकता नहीं है जो जीवन से पीछे हट जाती है, हमारा आदर्श है आत्मा की शक्ति द्वारा जीवन पर विजय। यह है जगत् को भगवान् की अभिव्यक्ति के लिए एक प्रयास के रूप में स्वीकार करना और साथ ही मानवजाति को अभिव्यक्ति के ज्यादा बड़े प्रयास द्वारा रूपांतरित करना, अभी तक जो कुछ प्राप्त हुआ है उससे ज्यादा बड़ी अभिव्यक्ति के रूप में; जिसमें मनुष्य और भगवान् के बीच का पर्दा हट जाएगा, वह दिव्य मानवता जन्म लेगी जिसके हम योग्य हैं और हमारा जीवन आत्मा की ज्योति, शक्ति और सत्य में पुनर्गठित होगा।

केवल भारत ही मानव-जाति के भविष्य का निर्माण कर सकता है; केवल भारत में ही राष्ट्रों के लिए प्रभावशाली अवतार प्रकट हो सकता है। और जब तक अवतार का आविर्भाव नहीं होता है, तब तक भारत का दायित्व बनता है कि वह अपने आपको धूल और अवनति (जो कि नष्ट-भ्रष्ट सत्य युग की प्रतीक है) में से ऊपर उठाकर संगठित हो, योग के द्वारा अपनी अन्तरात्मा के साथ संवाद साधे तथा अपने भूतकाल व भविष्य का ज्ञान प्राप्त करे।

केवल भारतवर्ष ही इस सामंजस्य का पता लगा सकता है, क्योंकि मनुष्य की वर्तमान प्रकृति में केवल थोड़ा-बहुत हेर-फेर करके नहीं, वरन् उसका परिवर्तन करके ही यह सामंजस्य विकसित किया जा सकता है और यह परिवर्तन योग के बिना कदापि नहीं हो सकता। आजकल मनुष्य और सभी वस्तुओं की प्रकृति बेमेल हो गई है, उसकी सुरसंगति बेसुरी हो गई है। उसे सामंजस्यपूर्ण बनाने के लिए मनुष्य के समूचे हृदय, कर्म और मन को परिवर्तित करना होगा, पर यह परिवर्तन अंदर से करना होगा, बाहर से नहीं; न तो राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं के द्वारा, न धार्मिक मतवादों तथा दर्शन-शास्त्रों के ही द्वारा करना होगा, बल्कि अपने अंदर और जगत् के अंदर भगवान् की उपलब्धि करके और उस उपलब्धि के द्वारा जीवन को एक नये साँचे में ढाल करके करना होगा।

...स्वयं भारत के लिए और गहरे मुद्दे हैं, क्योंकि कुछ लुभावनी दिशाओं का अनुसरण कर वह, जहाँ तक हम समझते हैं, अन्य अनेकों जैसा अतिसमृद्ध उद्योग और व्यवसाय, सामाजिक और राजनैतिक जीवन का एक शक्तिशाली संगठन, एक महान् सैनिक शक्ति विकसित करनेवाला एक राष्ट्र बन जाएगा, जो उच्च कोटि की सफलता के साथ सत्ता की राजनीति का व्यवहार करेगा, अपने लाभों और हितों का उत्कटतापूर्वक बचाव और विस्तार करेगा, दुनिया के एक बड़े हिस्से पर आधिपत्य भी करेगा, पर, इस ऊपर से दिखाई देने वाली भव्य प्रगति में, अपने स्वधर्म से वंचित हो जाएगा, अपनी आत्मा को खो देगा।

तब प्राचीन भारत और उसकी आत्मा बिल्कुल ही विलुप्त हो जाएँ और हमारे पास केवल औरों जैसा ही एक और राष्ट्र रह जाए, तो यह न तो विश्व के लिए और न ही हमारे लिए कोई वास्तविक उपलब्धि होगी। प्रश्न यह है कि क्या वह अधिक अहानिकर रूप से अपने बाह्य जीवन में प्रगति करता जाए और अंततः पूर्ण रूप से अपने समृद्धिशाली संचित और दृढ़तापूर्वक गृहीत आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञान को खो दे। यह भाग्य की एक दुःखद विडम्बना होगी यदि भारत को अपनी आध्यात्मिक विरासत को ऐसे ही क्षण फेंक देना पड़े जब शेष विश्व में उसकी तरफ आध्यात्मिक सहायता और रक्षक प्रकाश के लिए अधिकाधिक झुकाव हो। यह कदापि नहीं होना चाहिए, निश्चित रूप से होगा भी नहीं; पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इसका खतरा नहीं है।

इस प्रकार विश्व का भाग्य भारत पर निर्भर करता है। जब-जब भारत अपनी नींद से जागता है वह जगत् को एक अद्‌भुत जाज्वल्यमान प्रकाश-किरण उपलब्ध कराता है जो राष्ट्रों को दैदीप्यमान करने के लिए पर्याप्त होती है। भारत के लिए जो एक क्षणभर का विचार होता है, दूसरे राष्ट्र उस विचार के सहारे सदियों तक जीते रहते हैं।

भगवान् ने भारत को प्राचीन बुद्धिमत्ता की पुस्तक प्रदान की और आज्ञा दी कि वह तब तक उसे अपने हृदय में संजोकर रखे जब तक उसको प्रकट करने का समय समुपस्थित न हो जाए। कभी-कभी इस पुस्तक का एक पृष्ठ या एक अध्याय प्रकट किया जाता है और कभी-कभी तो मात्र एक वाक्य ही। ऐसे वाक्य युगों के लिए प्रेरणादायी सिद्ध हुए हैं और मानवजाति को शताब्दियों तक पोषण प्रदान करते रहे हैं। इसी प्रकार जब भारत सो जाता है तो भौतिकवाद की अभिवृद्धि होती है और अंधकार प्रकाश को घेर लेता है। लेकिन जब भौतिकवाद सोचने लगता है कि उसकी जीत हो गई है तभी देखो ! प्राची से एक प्रकाश उमड़ता है और भौतिकवाद ! वह कहाँ है? वह अपने जन्मजात अंधकार में पहुँच जाता है।

मानव प्रगति के आगामी चरण में भौतिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक, नैतिक और चैत्य उन्नति करनी होगी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत को ही नेतृत्व प्रदान करना होगा।

भागवत प्रवाह को उसकी समग्रता में ग्रहण करने के लिए विश्व को भारत के जाग उठने की प्रतीक्षा है।

भारत का कार्य है विश्व को प्रकाश और पुनरुद्धार का एक स्थाई स्रोत प्रदान करना। जब कभी ऊर्जा की प्रथम लीला मंद पड़ती है और धरती वृद्ध होकर थक जाती है, भौतिकवाद से ग्रस्त हो जाती है तथा ऐसी समस्याओं से त्रस्त हो जाती है जिन्हें वह हल नहीं कर पाती है तब भारत का कार्य होता है कि वह मानवता के यौवन की पुनर्स्थापना करे और उसे विश्वास दिलाए कि वह अमर है। ऐसे समय में भारत अपने हृदय से एक ऐसे प्रकाश का प्रसारण करता है जो धरती और आसमान को आप्लावित कर देता है और मानवता उस प्रकाश में ठीक वैसे ही स्नान करती है जैसे संत जॉर्ज जीवन के कुएँ में। इस स्नान से मानवता अपनी लम्बी तीर्थयात्रा के लिए शक्ति, आशा और जीवंतता को पुनः प्राप्त कर लेती है। ऐसा ही समय अब सामने है।

वेदान्त का विधान है अपनी क्षुद्र व्यक्तिगत सत्ता का त्याग तथा दूसरों में, राष्ट्र में, मानवता में और भगवान् में अपनी वृहत्तर सत्ता की उपलब्धि। यही भारत का संदेश है। लेकिन भारत केवल इस संदेश का प्रसार करके ही संतुष्ट नहीं हो सकता। उसे उठना होगा और सारी दुनिया के सामने इस संदेश को जीकर दिखाना होगा ताकि यह सिद्ध किया जा सके कि मनुष्यों और राष्ट्रों के लिए आचरण का यह एक सम्भव विधान है।

भगवान् सदा ही अपने लिए एक ऐसा देश चुनकर रखते हैं जिसमें थोड़े या बहुत-से लोग सब प्रकार की संभावनाओं और विपत्तियों में से गुजरते हुए उच्चतर ज्ञान को सदा-सर्वदा सुरक्षित रखते हैं, और वर्तमान काल में, कम-से-कम इस चतुर्युग में, वह देश है भारतवर्ष। जब कभी वह अज्ञात का, द्वंद्वों का, संघर्ष और क्रोध और दुःख और दुर्बलता और स्वार्थपरता का, तामसिक और राजसिक सुखों का, थोड़े में कहें तो कलि की लीला का पूरा-पूरा उपभोग करना चाहते हैं तब वह भारत के ज्ञान को धुँधला बना देते और उसे दुर्बलता और अवनति के गड्ढे में डाल देते हैं जिससे वह आत्मसंवरण कर ले और उनकी लीला की इस गति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे।

जब वे इस कीचड़ से ऊपर उठना चाहते हैं और यह चाहते हैं कि नर में जो नारायण हैं वे फिर एक बार शक्तिशाली, ज्ञानवान् और आनंदपूर्ण बन जाएँ तब वे पुनः भारतवर्ष के ऊपर ज्ञान की वर्षा करते और उसे ऊपर उठाते हैं जिससे वह (भारतवर्ष) समस्त संसार को ज्ञान दे सके और उस ज्ञान के अवश्यंभावी फल – बल, बुद्धि और आनंद – दे सके। जब ज्ञान की गति संकुचित हो जाती है तब भारत के योगी संसार से अलग होकर केवल अपनी मुक्ति या आनंद के लिए या अपने कुछ शिष्यों की मुक्ति के लिए योगाभ्यास करते हैं; परंतु जब ज्ञान की गति पुनः प्रसारित होती है और उसके साथ-ही-साथ भारत का आत्मा भी प्रसार लाभ करता है तब वे फिर सामने आ जाते हैं और संसार में तथा संसार के लिए कार्य करते हैं। तब जनक, अजातशत्रु और कार्तवीर्य जैसे योगी फिर से संसार के राजसिंहासनों पर आरूढ़ होते और विभिन्न राष्ट्रों पर शासन करते हैं।

स्वयं भारत में चमत्कार सिद्ध करने की श्रद्धा का अतिमानवीय सद्‌गुण है, अपने-आपको अकाट्य बंधन से मुक्त करने की, भगवान् को धरती पर नीचे उतारने की शक्ति है। उसमें एक प्रच्छन्न इच्छा-शक्ति है जो और किसी राष्ट्र में नहीं है। अपने अंदर उस श्रद्धा, उस संकल्प-शक्ति को जागृत करने के लिए उसे आवश्यकता है केवल उस आदर्श की जो उसे प्रयास करने के लिए प्रेरित करे।

वह आदर्श है भगवान् में मानवता और मानवता में भगवान् का प्राचीन सनातन धर्म का आदर्श, परंतु राजनीति और राष्ट्रीय पुनरुद्धार की समस्या के बारे में जिसका ऐसा प्रयोग जैसा पहले कभी नहीं किया गया था। उस आदर्श को चरितार्थ करना, उसे जगत् को प्रदान करना भारत का उद्देश्य है।

धार्मिक विचार और अनुभव में से सारे ओछेपन, संकीर्णता और छिछलेपन को निकाल बाहर करो। विशालतम क्षितिजों से भी अधिक विशाल, उच्चतम कंचनजंगा से भी अधिक उदात्त और गहनतम सागरों से भी अधिक गहरे बनो।

भारत नष्ट नहीं हो सकता। हमारी जाति समाप्त नहीं हो सकती क्योंकि मानवजाति के भविष्य के लिए वह बहुत आवश्यक है, उसे सबसे ऊँची और सबसे शानदार भूमिका के लिए चुना गया है। भारतवर्ष से ही सारे संसार का धर्म निकलेगा, वह शाश्वत सनातन धर्म जो सब धर्मों में, विज्ञान और दर्शन में समन्वय करेगा और मानवजाति को एक-अंतरात्मा बनाएगा।

हमारा विश्वास है कि भगवान् हमारे साथ हैं और इस आस्था में हमारी जीत होगी। हम मानते हैं कि मानवजाति को हमारी आवश्यकता है और इस मानवजाति, हमारे देश, प्रजाति तथा हमारे धर्म के प्रति प्रेम और इनकी सेवा ही है जो हमारे हृदय को निर्मल करेगी और संघर्ष में हमारे कर्मों को प्रेरित करेगी।

सरकारें, समाज, राजा लोग, पुलिस, न्यायाधीश लोग, संस्थाएँ, चर्च, कानून, रीति-रिवाज, सेनाएँ आदि कुछ शताब्दियों के लिए हम पर थोपी गई अस्थाई आवश्यकताएँ हैं, क्योंकि भगवान् ने अपना मुखारविन्द हमसे छिपा लिया है। जब भगवान् का मुखारविन्द अपनी सच्चाई और सुन्दरता के साथ पुनः हमारे सामने प्रकट होगा, तब उस आलोक में ये सब विलीन हो जाएँगे।

भारत से प्रेम करो

यदि ब्रिटेनवासी इंग्लैंड से, उसके सारे दोषों के होते हुए भी प्यार करते हैं, तो हम भारत से प्यार करने में क्यों चूकें, जिसके दोष उस समय तक छाँटकर, जितने हो सकते थे, कम से कम कर दिये गए थे, जब तक कि विदेशी आक्रमणों ने सारे समाज को तहस-नहस नहीं कर दिया था। किंतु बजाय इसके कि ऐसी सभ्यता की पताका लेकर सारे विश्व में फहराने की स्वाभाविक महत्वाकांक्षा हमें वशीभूत कर लेती हम उसकी जन्मभूमि में ही उसे अखण्ड नहीं रख पा रहे हैं। इस बहुमूल्य विरासत में हम कुछ भी जोड़ नहीं पाए हैं, उल्टे हम अपने को और उस पीढ़ी को, जो अभी पैदा नहीं हुई है, उनकी वैध विरासत के पूर्ण उपभोग से वंचित रखते आए हैं।...

राजनीति में प्रेम का स्थान तो है लेकिन वह अपने देश के लिए, देशवासियों के लिए, जाति की महिमा, महानता और उल्लास के लिए प्रेम है, वह अपने साथियों के लिए आत्मबलि का दिव्य आनंद है, उनके कष्टों को दूर करने का आनंद है, मृत्यु में अपनी जाति के पूर्वजों के साथ एक हो जाने का परमानन्द है।

मातृभूमि की मिट्टी के स्पर्श में प्रायः भौतिक आनंद का अनुभव, भारतीय सागरों से आने वाली हवाओं, भारतीय पर्वतों से बहने वाली नदियों का अनुभव, भारतीय वाणी, उसकी कविता और उसके संगीत को सुनने का अनुभव, सुपरिचित दृश्यों, शब्दों, आदतों, वेशभूषा, भारतीय जीवन का आचार-व्यवहार – ये हैं उस प्रेम की भौतिक जड़ें।

अपने अतीत पर गर्व, अपने वर्तमान की व्यथा, अपने भविष्य के लिए आवेश देश-प्रेम का तना और उसकी शाखाएँ हैं। आत्माहुति और आत्म-विस्मृति, महान् सेवा, देश के लिए महान् (परम) सहन-शक्ति उसके फल हैं। और जो रस इस पेड़ को जीवित रखता है वह है देश के अंदर भगवान् के मातृ रूप को पहचानना और उसे अनुभव करना; दिव्य माता का अंतर्दर्शन, दिव्य जननी का सतत् ध्यान (चिंतन) उसकी आराधना और उसकी सेवा।

जब मैं इंगलैंड में कोयल को नदी-किनारे या फिर बगीचों के विस्तारों में गाते हुए सुनता हूँ अथवा सीन नदी को पेरिस के आधुनिक उल्लास के बीच से बहते हुए देखता हूँ तो मैं भारतीय भोर में पक्षियों के नानाविध कलरव को फिर से सुनने लगता हूँ और निश्चित रूप से गंगा को अपने पूर्वी समुद्रों की ओर किसी शेर की तरह भव्यता के साथ प्रवाहित होते हुए देखने लगता हूँ। शरीर तो अपने परिवेश से बँधा होता है लेकिन हृदय तो उसका अतिक्रमण कर जाता है और इस प्रकार मैं सुदूर ठंडे प्रदेशों में भी भारत के प्रति अपने प्रेम को अपने साथ ले जाता हूँ।

अच्छा तो तब होगा जब प्रत्येक भारतीय अपने विदेशी परिवेश से मोम की तरह मोहर लगवाने की बजाय जहाँ भी जाए वहाँ अपने साथ भारत को भी ले जा सके। क्योंकि उसका अर्थ होगा कि भारत अवश्य ही सारे विश्व को जीतकर उस पर अपना सिक्का जमा देगा।

मेरा तीसरा पागलपन यह है कि अन्य लोग स्वदेश को एक जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी भर समझते हैं; मैं स्वदेश को माँ मानता हूँ, उसकी भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ। माँ की छाती पर बैठकर यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के लिए उद्यत हो तो उसका पुत्र क्या करे? निश्चिंत होकर भोजन करने, स्त्री-पुत्र के साथ आमोद-प्रमोद करने के लिए बैठ जाए या माँ का उद्धार करने के लिए दौड़ पड़े ?

मैं जानता हूँ कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अंदर है, शारीरिक बल नहीं, तलवार या बंदूक लेकर मैं युद्ध करने नहीं जा रहा हूँ, ज्ञान का बल है। क्षात्र तेज एकमात्र तेज नहीं है, ब्रह्मतेज भी है, वह तेज ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होता है। यह भाव नया नहीं है, आजकल का नहीं है, इस भाव को लेकर ही मैंने जन्म ग्रहण किया है, यह भाव मेरी नस-नस में भरा है, भगवान् ने इसी महाव्रत को पूरा करने के लिए मुझे पृथ्वी पर भेजा है।

जब तक मातृभूमि अपने-आपको हमारे मन की आँखों के आगे भूमि के विस्तार या व्यक्तियों के झुंड से बढ़कर किसी और रूप में प्रकट नहीं करती, जब तक वह महान् दिव्य और मातृशक्ति का रूप ग्रहण नहीं कर लेती, सौंदर्य के ऐसे रूप में नहीं आती जो मन पर अधिकार कर ले और हृदय को मंत्रमुग्ध कर ले, तब तक ये तुच्छ भय और आशाएँ माता और उसकी सेवा में सब कुछ आत्मसात् करने वाले आवेश में विलीन नहीं होंगे और वह देश-प्रेम उत्पन्न नहीं होगा जो चमत्कार करता और अभिशप्त देश की रक्षा करता है।

भारत के विषय में श्रीमाताजी के वचन

जैसे ही कोई भारत आता है वैसे ही उसमें सहजरूप से अत्यंत प्रबल आध्यात्मिक अभीप्सा विकसित हो जाती है। ये ईश्वरीय अनुग्रह हैं। अनुग्रह हैं, जैसे कि उसके संपूर्ण ऐतिहासिक काल में रहे हैं, क्योंकि यह इस देश की नियति है और क्योंकि यह देश हमेशा ही बहिर्मुख होने की अपेक्षा अंतर्मुखी तथा ऊर्ध्वमुखी रहा है। उस सब को यह अब खो रहा है तथा कीचड़ में लोटपोट हो रहा है लेकिन जो भी है,... वास्तव में, यह हमेशा वैसा ही था और अभी भी वैसा ही है।

१. भारत की आत्मा और उसका मिशन

भारत कोई धरती, भूमि, नदी और पहाड़ नहीं है, न ही यह इस देश के निवासियों के लिए सामूहिक नाम है। भारत एक जीवंत सत्ता है, इतनी ही जीवन्त जैसे कि शिव। भारत एक देवी है जैसे कि शिव एक देवता। अगर वह चाहे तो अपने आपको मानवीय रूप में अभिव्यक्त कर सकती है।

भारत की आत्मा एक और अविभाज्य है। भारत संसार में अपने मिशन के बारे में सचेतन है। वह अभिव्यक्ति के बाहरी साधनों की प्रतीक्षा कर रहा है।

हे हमारी माँ, हे भारत की आत्म-शक्ति, हे जननी, तूने कभी, अत्यंत अंधकारपूर्ण अवसाद के दिनों में भी, यहाँ तक कि जब तेरे बच्चों ने तेरी वाणी अनसुनी कर दी, अन्य प्रभुओं की सेवा की और तुझे अस्वीकार कर दिया, तब भी तूने उनका साथ नहीं छोड़ा।.... हमें पथ दिखा जिससे कि हम सर्वदा महान् आदर्शों के पक्ष में ही खड़े हों और अध्यात्म मार्ग के नेता के रूप में तथा सभी जातियों के मित्र और सहायक के रूप में तेरा सच्चा स्वरूप मनुष्य जाति को दिखा सकें।

केवल भारत की आत्मा ही इस देश को एक कर सकती है।

बाह्य रूप में भारत के प्रदेश स्वभाव, प्रवृत्ति, संस्कृति और भाषा, सभी की दृष्टि से बहुत अलग-अलग हैं और कृत्रिम रूप से उन्हें एक करने का प्रयत्न केवल विपत्तिजनक परिणाम ला सकता है।

लेकिन उसकी आत्मा एक है। वह आध्यात्मिक सत्य, सृष्टि की तात्विक एकता और जीवन के दिव्य मूल के प्रति अभीप्सा में तीव्र है, और इस अभीप्सा के साथ एक होकर सारा देश अपने ऐक्य को फिर से पा सकता है। उस ऐक्य का अस्तित्व श्रेष्ठतर मानस के लिए कभी समाप्त नहीं हुआ।

संयुक्त भारत को संसार में एक विशेष मिशन (जीवन लक्ष्य) पूरा करना है। श्रीअरविंद ने इसके लिए अपना जीवन अर्पित किया और हम भी यही करने के लिए तैयार हैं।

यह भारत के आध्यात्मिक मिशन (जीवन लक्ष्य) की ध्वजा है। और इस मिशन को चरितार्थ करने से भारत की एकता चरितार्थ होगी।

हे भारत, ज्योति और आध्यात्मिक ज्ञान के राष्ट्र ! संसार में अपने सच्चे लक्ष्य के प्रति जागो, ऐक्य और सामंजस्य की राह दिखलाओ।

सच्ची आध्यात्मिकता जीवन का त्याग नहीं है, बल्कि दिव्य पूर्णता के साथ जीवन को पूर्ण बनाना है।

अब भारत को चाहिए कि संसार को यह दिखलाए।

२. भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति, कला एवं साहित्य

अति प्राचीन काल से (कुछ विद्वान् कहते हैं ईसा से ८००० वर्ष पहले से) भारत आध्यात्मिक ज्ञान और साधना का देश, 'परम सद्वस्तु' की खोज और उसके साथ ऐक्य का देश रहा है। यह वह देश है जिसने एकाग्रता का सर्वोत्तम और सबसे अधिक अभ्यास किया है। इस देश में जो पद्धतियाँ सिखाई जाती हैं, जिन्हें संस्कृत में योग कहते हैं, वे अनंत हैं। कुछ केवल भौतिक हैं, कुछ शुद्ध रूप से बौद्धिक हैं, कुछ धार्मिक और भक्तिपरक हैं; अंततः कुछ हैं जो अधिक पूर्ण प्रकाश प्राप्त करने के लिए इन विविध पद्धतियों को मिला देते हैं।

यह सब एक पुरानी धारणा पर आधारित है कि प्रतिमा बाहरी रूप से जो हो, लेकिन जिस देवी या देवता के बाहरी रूप का वह प्रतिनिधित्व करती है, की उपस्थिति सदैव ही वहाँ होती है। और हमेशा ही ऐसा कोई व्यक्ति होता है जिसमें कि उस दिव्य शक्ति व उस भागवत उपस्थिति को उस प्रतिमा में उतारने की सामर्थ्य होती है, चाहे वह पुजारी हो, या कोई दीक्षित हो अथवा कोई साधु या संन्यासी हो (सामान्यतया यह पुजारी का काम होता है)। और यह सत्य है, सर्वथा सत्य कि वह दिव्य शक्ति व भागवत उपस्थिति वहाँ है, और वह उपस्थिति ही है जिसकी तुम पूजा करते हो। न कि केवल काष्ठ, पाषाण या धातु की प्रतिमा की।

युरोपवासियों में बिल्कुल भी आंतरिक समझ नहीं है। उनके लिए सभी चीजें सतही हैं, और यह ही नहीं वरन् उस सतह की भी बारीक परत हैं। उनके अंतर में कुछ नहीं है जिस कारण वे कुछ भी महसूस नहीं कर सकते। लेकिन यह एक पूर्णतया सच्चा तथ्य है और मैं इसके लिए साक्ष्य दे सकती हूँ कि यह भागवत उपस्थिति वहाँ *(देव प्रतिमाओं में)* है ! लोगों ने मुझे धातु, काष्ठ व हाथी दाँत की छोटी-छोटी वस्तुएँ दी हैं जो कि अनेक देवताओं की प्रतीक हैं और जैसे ही किसी एक को मैं हाथ में लेती हूँ भगवान् प्रस्तुत हो जाते हैं। मेरे पास कुछ गणेश की प्रतिमाएँ हैं (मुझे बहुत सी भेंट की जा चुकी हैं) और जब मैं किसी एक को हाथ में लेकर उसे एक मिनट के लिए देखती हूँ तो उसे (गणेश को) वहाँ पाती हूँ। और फिर एक नारायण हैं जो हिमालय में बद्रीनाथ से आते हैं।

मैंने हमेशा ही (रूप के) पीछे की उपस्थितियों को अनुभव किया है।

लेकिन गिरिजाघरों में मुझे यदा कदा ही कोई अनुभव हुए हैं। बहुधा इसके विपरीत मुझे उच्चतर शांति व दिव्य करुणा पाने के मानवीय प्रयास को बहुत ही गलत हाथों में पड़ते देखने का पीड़ादायक अनुभव हुआ है।

मैं नहीं जानती क्यों, लेकिन मुझे इस प्रकार के अनुभव अत्यधिक बार हुए हैं कि या तो सब कुछ निगलती हुई कोई आसुरिक शक्ति पीछे दिखाई देती है या फिर कोई क्रूर व्यक्ति दिव्य शक्ति का दुष्प्रयोग कर रहा होता है।

वास्तव में मैंने पूरे विश्व में देखा है। धर्मों के प्रति, चाहे वे युरोप, अफ्रीका, जापान या फिर यहाँ के हों, मेरा कभी भी अच्छा मत नहीं रहा है....

पाश्चात्य बुद्धि के लिए सुग्राह्य शब्दों में जब मुझे गीता का उपदेश बताया गया कि भगवान् हमारे अंतःस्थल में हैं, कि एक आंतरिक भागवत उपस्थिति है और मनुष्य भगवान् को अपने अंदर धारण किए रखता है, तो अहा ! यह क्या रहस्योद्घाटन था। कुछ ही मिनटों में मैं अकस्मात् ही सब कुछ समझ गई। सब समझ गई। इससे तत्काल ही आंतरिक संपर्क साधित हो गया।

यदि तुम सच्ची और सर्वोच्च कोटि की कला चाहते हो तो उसे इस भौतिक विश्व में भागवत लोक की अभिव्यक्ति का वाहन बनना होगा। सब सच्चे कलाकारों को इस बात का अहसास होता है, ऐसा एक बोध होता है कि वे हमारी इस भौतिक दुनिया और किसी उच्चतर लोक के बीच मध्यस्थ का कार्य कर रहे हैं।

मध्ययुग में तो कला का यह प्रगट रूप से घोषित कार्य था। मध्यकालीन चित्रकारों की, मध्ययुगीन युरोप में महामन्दिरों (cathedrals) के निर्माताओं की, कला के विषय में इससे भिन्न कोई अवधारणा नहीं थी। भारत में उसकी सारी वास्तुकला, मूर्तिकला या चित्रकला का उद्भव इसी मूल से हुआ है और उनके पीछे इसी आदर्श की प्रेरणा रही है। मीरांबाई के गीत, त्यागराज का संगीत, उसके भक्तों, सन्तों, और ऋषियों ने जिस काव्य-साहित्य की रचना की है उनका विश्व की सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक सम्पदा में सुनिश्चित स्थान है।

यहाँ (भारत में) ...कला की एक परम्परा है जो लगातार जीवित रही है। सारे देश में सर्वत्र ऐसी कृतियाँ उपलब्ध हैं जिनका निर्माण इस देश की कला के इतिहास की सुनहली घड़ियों में हुआ होगा। हम उसी परम्परा के बीच रहते हैं। (कला के क्षेत्र में) शेष दुनिया में और सबसे ज्यादा तो युरोप में जो कुछ हुआ उसके उत्तरकालिक प्रभाव यहाँ हमें लगभग नहीं भोगने पड़े। भारत के केवल उन्हीं भागों में जहाँ अंग्रेजियत कुछ ज्यादा ही हावी रही लोगों ने सौन्दर्य-बोध की अपनी क्षमता खो दी है। बम्बई में कलाकारों के कुछ स्कूल हैं जो भयावह हैं। कलकत्ता 'स्कूल' ने भारतीय कला को पुनरुज्जीवित करने की कोशिश की थी किन्तु वह बहुत छोटे पैमाने पर ही हुई।

कला की दृष्टि से, जो तुम्हारी पहुँच के भीतर तुम्हें सबसे ज्यादा सुलभ हैं वे तो पुरानी कृतियाँ ही हैं: प्राचीन मन्दिर और प्राचीन चित्र। ये सारी कृतियाँ उच्च कोटि की हैं। उनकी रचना रचयिताओं की श्रद्धा, उनका विश्वास प्रगट करने के उद्देश्य से हुई थी। और जो कुछ भी उन्होंने किया उस पर उनके समग्रता के, सम्पूर्णता के बोध की छाप है, कहीं भी असम्बद्धता नहीं है। अधिकांश रचनाएँ, मेरा ख्याल है कि लगभग सारी सुन्दर रचनाएँ ऐसी हैं जिन पर उनके रचयिताओं के नाम नहीं हैं। गुफाओं के उन सारे चित्रों पर या मन्दिरों की मूर्तियों पर किसी के हस्ताक्षर नहीं हैं। कोई नहीं जानता कि उनका निर्माण किसने किया। यह सब उन्होंने आज की तरह अपना नाम करने के लिए नहीं किया।

जापानी घर कलात्मक समष्टि का अत्यंत सुन्दर नमूना होता है। उसमें हमेशा सही चीज़ सही स्थान पर मिलेगी, कोई भी वस्तु वहाँ नहीं होगी जहाँ उसका स्थान नहीं है, और इसी तरह न तो कुछ उचित से अधिक होगा, न उचित से कम। हर एक वस्तु वैसी होगी जैसी उसे होना चाहिए और घर स्वयं आसपास के प्रकृति में उसी के एक अंश की भाँति मिल जाता है। सब बहुत सुन्दर होता है। भारत में भी चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुशिल्प एकात्म भाव से एक समग्र सौन्दर्य की सृष्टि करते थे – भगवान् के प्रति पूजा-भक्ति की एक अखण्ड धारा।

महाभारत और रामायण शेक्सपीयर या अन्य किसी भी कवि की किन्हीं भी रचनाओं से कम नहीं हैं और ये ग्रन्थ उन कवियों की रचनाएँ कही जाती हैं जो ऋषि थे और जिन्होंने योग-साधना की तपस्या की थी। गीता जो उपनिषदों की भाँति ही सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक और सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक, दोनों प्रकार की कृतियों में सामान्य स्थान रखती है किसी ऐसे कवि की रचना नहीं है जिसे योग की अनुभूतियाँ न रही हों।

भारत में उपलब्ध श्रेष्ठ कोटि की मूर्तिकला या वास्तु-शिल्प के जो भी उदाहरण हैं उनमें से अधिकतर उन बौद्ध भिक्षुओं की रचनाएँ हैं जो अपना जीवन आध्यात्मिक चिन्तन और साधना में बिता रहे थे। उन्होंने सर्वोत्तम कलात्मक कृतियाँ दीं किन्तु परवर्ती पीढ़ियों को अपना नाम जता जाने की चिन्ता उन्होंने नहीं की।

मुझे भारतीय भाषाओं के लिए बहुत अधिक मान है और मुझे जब समय मिलता है संस्कृत का अध्ययन जारी रखती हूँ।

संस्कृत भारत की राष्ट्र भाषा होनी ही चाहिये।

हिंदी सिर्फ उन लोगों के लिए अच्छी है जो किसी हिंदी-भाषी प्रदेश के हों। संस्कृत सभी भारतवासियों के लिए अच्छी है।

यदि केवल एक ही भाषा सिखाई जाती है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय होनी चाहिए। लेकिन छात्रों के साधारण विकास के लिए विभिन्न भाषाओं की आवश्यकता है।

संस्कृत सच्ची राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए। केवल संस्कृत ही ऐसी भाषा है जो कि अंततः भारतीय लोगों के द्वारा स्वीकार की जाएगी। संस्कृत ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो कि देश के सभी भागों के लोगों के लिए समान प्रतिद्वन्द्विता प्रस्तुत करती है जिससे कि सभी को उसे सीखने का समान रूप से लाभ उपलब्ध हो सकता है, यह नहीं कि कोई विशिष्ट वर्ग या भाग ही उसे अधिक सुगमता से सीख सके। जब मैं संस्कृत के लिए कहती हूँ तो यह सहज संस्कृत होनी चाहिए, ना कि उसका सरलीकृत रूप।

जब भारत पुनः अपनी आत्मा को प्राप्त करेगा, तो संस्कृत स्वभाविक रूप से ही भारत की राष्ट्रीय भाषा बन जाएगी।

यह अधिक अच्छा होगा कि संस्कृत को सीखें और इसे वास्तव में जीवन्त भाषा बनाने का प्रयास करें।

३. भारत और पश्चिम

सारी सृष्टि में पृथ्वी का एक प्रतिष्ठित विशेष स्थान है, क्योंकि अन्य सभी ग्रहों से भिन्न, यह विकासशील है और इसके केंद्र में एक चैत्य सत्ता है। उसमें भी, विशेष रूप से भारत भगवान् द्वारा चुना हुआ एक विशेष राष्ट्र है।

यह सच है कि आज धरती पर भारत ही एकमात्र देश है जिसे इस बात का भान है कि 'जड़-द्रव्य' के सिवा और भी किसी चीज की सत्ता है। अन्य देश – युरोप, अमरीका आदि – इसे बिल्कुल भूल चुके हैं। इसलिए एक संदेश अभी तक उसी के पास है, उसे सुरक्षित रखना और दुनिया तक पहुँचाना है। लेकिन अभी तो वह अव्यवस्था में बिखर और छटपटा रहा है।

श्रीअरविंद ने बताया है कि सत्य भौतिक जीवन से पलायन करने में नहीं, बल्कि उसके अंदर रहने में, उसे रूपांतरित करने में, उसे दिव्य बनाने में है, ताकि भगवान् **यहाँ,** इस **भौतिक जगत् में** अभिव्यक्त हो सकें।

भारत के पास आत्मा का ज्ञान है या यूं कहें *था,* लेकिन उसने भौतिक तत्त्व की अवहेलना की और उसके कारण कष्ट भोगा।

पश्चिम के पास भौतिक तत्त्व का ज्ञान है पर उसने 'आत्मा' को अस्वीकार किया और इस कारण बुरी तरह कष्ट पा रहा है।

सर्वांगीण शिक्षा वह होगी जो, कुछ थोड़े-से परिवर्तनों के साथ, संसार के सभी देशों में अपनाई जा सके। उसे पूर्णतया विकसित और उपयोग में लाए हुए भौतिक द्रव्य पर 'आत्मा' के वैध अधिकार को पुनः लाना होगा।

युरोपवासी, जो शब्द व्यक्त किये जाते हैं उनको सर्वाधिक महत्व देते हैं।

भारतीय भावनाओं के प्रति बहुत अधिक संवेदनशील होते हैं, और इन भावों का तात्पर्य अधिकतर, जो शब्दों द्वारा प्रकट होता है उससे भिन्न होता है।

पश्चिम के लोग जितना वास्तव में जानते हैं उससे कहीं अधिक अभिव्यक्त करते हैं।
भारतीय वास्तव में जितना अभिव्यक्त कर सकते हैं उससे कहीं अधिक जानते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से भारत दुनिया का सर्वप्रमुख देश है। उसका जीवनकार्य अध्यात्मपरायण जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करना है। श्रीअरविन्द पृथ्वी पर यही सिखाने के लिए आए थे।

यह बात इतनी स्पष्ट है कि यहाँ एक सादा अशिक्षित किसान भी, अपने अन्तर में, युरोप के बुद्धिवादियों की अपेक्षा भगवान् के अधिक निकट है।

भारत को विश्व में अपना सच्चा स्थान तभी प्राप्त होगा जब वह सर्वांगीण रूप से दिव्य जीवन का सन्देशवाहक बन जाएगा।

भारत अपने खजानों का रहस्य उन्हीं के सामने प्रकट करता है जो मन की अभिरुचियों और जाति तथा शिक्षा के पक्षपातों पर विजय पा लें। अन्य जो खोजते हैं उसे न पाकर निराश लौटते हैं; क्योंकि उन्होंने उसे गलत तरीके से खोजा था और 'दिव्य खोज' का मूल्य चुकाने के लिए तैयार न थे।

४. कुछ समस्याएँ तथा उनका समाधान

मातः दुर्गे ! योगशक्ति का विस्तार कर ! तेरी प्रिय आर्य संतान हम, हममें लुप्त शिक्षा, चरित्र, मेधाशक्ति, श्रद्धा-भक्ति, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्यज्ञान का विकास कर, जगत में वितरण कर। हे दुर्गतिनाशिनि जगदंबे ! मनुष्य की सहायता के लिए प्रकट हो !

श्रीअरविन्द हमेशा अपनी मातृभूमि से प्रगाढ़ प्रेम रखते थे। लेकिन वे चाहते थे कि वह महान्, उदात्त, पवित्र और संसार में अपने महान् जीवन-लक्ष्य के योग्य बने। वे उसे अंधे स्वार्थ और अज्ञानमय पक्षपात के क्षुद्र, मलिन और गँवारू स्तर तक डूबने देने से इंकार करते थे। इसलिए, पूर्णतया उनकी इच्छा के अनुसार, हम उन लोगों की परवाह किये बिना जो अज्ञानता, मूर्खता, ईर्ष्या या दुर्भावनावश उसे कलुषित करना या कीचड़ में घसीटना चाहते हैं, सत्य, प्रगति और मानव रूपांतर की ध्वजा को ऊँचा रखते हैं। हम उसे बहुत ऊँचा उठाते हैं ताकि जिनमें भी अंतरात्मा है वे उसे देख सकें और उसके चारों ओर एकत्र हो सकें।

भारत वह देश है जहाँ चैत्य विधान का शासन हो सकता है और होना चाहिए और अब यहाँ उसका समय आ गया है। इसके अतिरिक्त, इस देश के लिए, जिसकी चेतना दुर्भाग्यवश विदेशी राज्य के प्रभाव और आधिपत्य के कारण विकृत हो गई है यही एक संभव निस्तार है। हर चीज के बावजूद, उसके पास एक अनोखी आध्यात्मिक परंपरा है।

आशीर्वाद।

भारत को जिस चीज ने नष्ट किया है वह यह विचार है कि उच्चतर चेतना का संबंध केवल उच्चतर चीजों के साथ ही है, और निचले स्तर की चीजों में न उसकी रुचि है और वह उनके विषय में अनभिज्ञ है। यही वह विचार है जिससे भारत का पतन हुआ है। तो इस दोष को पूर्णतया निर्मूल करना होगा। यह केवल उच्चतम चेतना ही है जो सर्वाधिक स्पष्ट रूप से देखती है – सर्वाधिक स्पष्ट रूप से और सर्वाधिक सच्चे रूप में – कि भौतिक से भौतिक वस्तु की भी क्या आवश्यकता होनी चाहिए।

इस विचार के साथ, हम एक नई प्रकार की शासन प्रणाली व्यवहार में लाने की चेष्टा कर सकते हैं।

जब तुम सुंदरता से कतराते हो तो यह असुर का एक बहुत बड़ा अस्त्र होता है। इसी ने भारत का नाश किया है। भगवान् चैत्य में प्रेम, मन में ज्ञान, प्राण में शक्ति तथा भौतिक में सौंदर्य के रूप में प्रकट होते हैं। अगर तुम सौंदर्य का बहिष्कार करो तो तुम भगवान् को भौतिक स्तर पर प्रकट होने से रोकते हो और उस भाग को असुर के हाथ में सौंप देते हो।

यह राष्ट्र बिखरता हुआ दिखाई दे रहा है, अतः वहाँ (दिल्ली में) उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या किया जाना चाहिए। मैंने उन्हें बताया कि देश के एकीकरण तथा उद्धार का एकमात्र उपाय है – देश के लिए श्रीअरविंद के आदर्श को अंगीकार करना। श्रीअरविंद स्पष्टतया देखते थे कि देश को संगठित कैसे करना चाहिए, उनके पास योजना थी और यह सब उन्होंने मुझे बताया था। और यदि कोई गंभीरता से उनकी पुस्तकें पढ़े तो यह सब कुछ वहाँ देख सकता है।

एक बात सुस्पष्ट है – वह यह कि यदि सब कुछ सुचारू रूप से अच्छे परिणामों के साथ होता तो एक उच्चतर सहायता की आवश्यकता उन्हें कभी नहीं महसूस होती, और वे आँकड़ों के और अपनी क्षमताओं से संतुष्टि के आधार पर ही फूले न समाते !

पहली चीज जो तुम्हें अवश्यमेव करनी चाहिए वह यह कि संविधान का परिवर्तन इस प्रकार करना चाहिए कि सत्ता में वे लोग आएँ जिनमें योग्यता व ईमानदारी दोनों हों। साधारणतया, जो लोग ईमानदार होते हैं वे योग्य नहीं होते और जो योग्य होते है वे ईमानदार नहीं होते। इसलिए यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि जो लोग इन दोनों गुणों को धारण करते हैं, उन्हें सत्ता में आना चाहिए।

दस वर्ष की उम्र में ही मैंने (फ्रांस में) लोकतंत्र को मूर्खतापूर्ण पाया, लेकिन जो हो ... फ्रांस में यह मूर्खतापूर्ण है (लेकिन उससे कुछ फर्क नहीं पड़ता) लेकिन यह मुझे नहीं लगता कि किसी भी कीमत पर न्यूनतम रूप में भी लोकतंत्र भारत की आत्मा के अनुरूप है। इसका प्रमाण यह है कि चीजों का नियंत्रण लोगों की सामुहिकता कतई नहीं करती बल्कि कुछ ऐसे अधम और निकृष्ट लोग करते हैं जो अपने आपको ''मैं इसका प्रतिनिधित्व करता हूँ'' यह कहते हुए जनता पर थोपते हैं।

सभी राजनैतिक दलों की भाँति समाजवाद भूतकाल की चीज़ है और अगर हम सत्य की सेवा करना चाहते हैं तो उसे पीछे छोड़कर आगे बढ़ना आवश्यक है।

भारत और संसार की रक्षा करने के लिए संबद्ध इच्छा-शक्तिवालों का एक ऐसा सशक्त समूह होना चाहिये जिसमें आध्यात्मिक ज्ञान भी हो। भारत ही संसार में 'सत्य' को ला सकता है। भारत पश्चिम के जड़वाद की नकल करके नहीं, 'भागवत शक्ति' और 'संकल्प' को अभिव्यक्त करके ही संसार को अपना संदेश सुना सकता है। 'भागवत इच्छा' का अनुसरण करके ही भारत आध्यात्मिक पर्वत के शिखर पर चमकेगा, 'सत्य' का मार्ग दिखलाएगा और विश्व एकता का संगठन करेगा।

५. भारत का भविष्य और मनुष्य जाति के लिए उसका महत्व

यह मानचित्र विभाजन के बाद बना था।

यह सब तरह के गुजरते हुए रूपों के बावजूद सच्चे भारत का मानचित्र है, और यही हमेशा सच्चे भारत का मानचित्र रहेगा, लोग इसके बारे में कुछ भी क्यों न सोचें।

संसार के कल्याण के लिए भारत की रक्षा होनी ही चाहिए क्योंकि केवल वही उसे शांति और नई विश्व-व्यवस्था की ओर ले जा सकता है।

भारत का भविष्य बहुत स्पष्ट है। भारत संसार का गुरु है। संसार की भावी रचना भारत पर निर्भर है। भारत जीवित-जागृत आत्मा है। भारत संसार में आध्यात्मिक ज्ञान को जन्म दे रहा है। भारत सरकार को चाहिये कि इस क्षेत्र में भारत के महत्त्व को स्वीकार करे और अपने कार्यों की योजना उसी के अनुसार बनाए।

भारत आधुनिक मानव जाति की सभी कठिनाइयों की प्रतीकात्मक प्रस्तुति बन गया है।

भारत ही उसके पुनरुत्थान का, एक उच्चतर और सत्यतर जीवन में पुनरुत्थान करने वाला देश होगा।

भारत संसार में अपना सच्चा स्थान तभी पाएगा जब वह पूर्ण रूप से 'भागवत जीवन' का संदेशवाहक हो जाएगा।

...पूरे विश्व में केवल एक ही ऐसा राष्ट्र है जो यह जानता है कि केवल एक ही सत्य ऐसा है जिसकी ओर हमारे सारे क्रिया-कलापों को मोड़ देना चाहिए, और वह राष्ट्र है भारत। अन्य राष्ट्र यह सब भूल चुके हैं लेकिन भारत में यह बोध लोगों में अंतर्निहित है और एक दिन यह बाहर आएगा। मैं देश की स्थितियों के विषय में जानती हूँ। यदि एक भी व्यक्ति अपने आपको पूर्णरूपेण सत्य की सेवा में अर्पित कर सके, तो वह इस राष्ट्र को और पूरे विश्व को परिवर्तित कर सकता है।

वर्षों-पूर्व, जब श्रीअरविन्द यहाँ विद्यमान थे, एक अन्तर्दर्शन (vision) में यह देखा गया था कि पृथ्वी के भाग्य का निर्णय इसी भारत-भूमि पर होगा।

इस प्रकार, दो परस्पर विरोधी सम्भावनाएँ उपस्थित हैं। उस दर्शन में मानो यह कहा गया था कि यदि युद्ध होता है तो वह भारत की भूमि पर ही होगा : विश्व का निर्णायक संघर्ष,...यह खेल भारत की भूमि पर ही खेला जाएगा। किन्तु क्या शांति की शक्ति इतनी बलवती है कि इस संघर्ष को रोक सके? सारा प्रश्न यही है। पर संघर्षरत शक्तियों का बवण्डर यहीं है, भारत के क्षितिज पर।

हमने क्यों दुःख भोगा?

यह महान् और पुरातन राष्ट्र कभी मानव प्रकाश का स्रोत था, मानवीय सभ्यता का शिखर, साहस और मानवीयता का एक उदाहरण, सुचारू प्रशासन और सुस्थिर समाज की पराकाष्ठा, सभी धर्मों की जननी, सारी बुद्धिमत्ता और दर्शन का शिक्षक।

घटिया सभ्यताओं और अधिक असभ्य लोगों के हाथों इसने बहुत कष्ट झेला है। इसे रात की छाया में गिर कर प्रायः मौत की कड़वाहट चखनी पड़ी है। उसके स्वाभिमान को कुचल कर धूल में मिला दिया गया और इसका गौरव तिरोहित हो गया। भुखमरी, संताप और निराशा इस धवल धरती, इन गौरवमय गिरि शृंखलाओं, इन प्राचीन सरिताओं तथा इन पुरियों की अधिष्ठात्री बन बैठी हैं जिनकी जीवन-गाथा इतिहासपूर्व की रात्रि के भीतर तक जाती है। पर क्या आप यह सोचते हैं कि इसलिए परमात्मा ने हमारा सर्वथा परित्याग कर दिया है और हमेशा के लिए हमसे विरत हो गया है।

हम अभी भी ईश्वर के चहेते जन हैं और हमारी जितनी भी विपत्तियाँ थीं वे सहिष्णुता का अभ्यास रही हैं, क्योंकि हमारे समक्ष जो उद्देश्य हैं उसके लिए संपन्नता पर्याप्त नहीं थी, विपन्नता भी अपनी तरह का एक प्रशिक्षण देती है; सत्ता, भलाई और प्रसन्नता के उत्कर्ष का आस्वादन पर्याप्त नहीं था, दुर्बलता, यंत्रणा और अपमान की जानकारी भी आवश्यक थी; यह पर्याप्त नहीं था कि हम दयाशील साधु और परोपकारी नृपति की भूमिका ही अदा कर सकें, जाति-बहिष्कृत और गुलाम की आत्मा क्या महसूस करती है उसका व्यक्तिगत रूप से अनुभव करना भी हमारे लिए आवश्यक था। लेकिन वह अध्याय सीखा जा चुका है और हमारे पुनरुत्थान का समय आ चुका है।

भारत की प्रकृति, उसका मिशन, उसका कर्त्तव्य कर्म, पृथ्वी की भवितव्यता में उसका भाग, वह विशिष्ट शक्ति जिसका वह प्रतिनिधि है – यह सब उसके विगत इतिहास में लिखा हुआ है और यही उसके वर्तमान कष्टों और अग्निपरीक्षाओं का गुप्त प्रयोजन है। हमें अपनी आत्मा के बाह्य रूपों का पुनः गठन करना होगा; किंतु प्राचीन रूपों के पीछे विद्यमान आत्मा को ही हमें उन्मुक्त करना और उसकी सुरक्षा करते हुए उसे नए और ओजस्वी विचार-प्रतीक, सांस्कृतिक मूल्य, नये उपकरण एवं महत्तर रूप प्रदान करने होंगे।

हमारी सभ्यता की भाव-भावनाओं और आदर्शों को किसी प्रकार के समर्थन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अपने सर्वोत्कृष्ट अंशों में एवं अपने सारतत्त्व में वे शाश्वत महत्त्व की वस्तु थे। भारत ने उनकी जो आंतरिक एवं व्यक्तिगत खोज की वह सच्ची, शक्तिशाली और फलोत्पादक थी। किंतु समाज के सामूहिक जीवन में उसका अत्यधिक संशय-संकोच के साथ जो प्रयोग किया गया वह कभी पर्याप्त साहस और पूर्णता के साथ तो किया ही नहीं गया बल्कि जब भारत की जनता में जीवन-शक्ति का ह्रास होने लगा तो वह अधिकाधिक संकीर्ण और निश्चेष्ट बनता चला गया। यह त्रुटि, आदर्श और सामूहिक कर्म में यह भारी विषमता समस्त मानवजीवन का पीछा करती आई है, यह भारत की ही कोई निराली विशेषता नहीं थी। किंतु समय बीतने के साथ-साथ यह विषमस्वरता विशेष रूप से स्पष्ट होती गई और अंत में इसने हमारे समाज पर अधिकाधिक गहरी होती दुर्बलता और असफलता की मुहर लगा दी।

जाति प्रथा एवं जाति बहिष्कृतों से बर्ताव

श्रीअरविंद ने १९१९ में लिखा : ''ह्रास और पतन की तमाम घटनाओं के अतिरिक्त हमें, अस्वीकार की किसी परिष्कृत खंडन के बिना, अपने जीवन तथा सामाजिक संस्थाओं के मतवादों में उन चीज़ों को स्वीकार करना चाहिए जो अपने आप में भ्रामक और कुछ तो एकदम असमर्थनीय हैं।'' ऐसी चीज़ें जो हमारे राष्ट्रीय जीवन को कमज़ोर करने वाली, हमारी सभ्यता को पतित करने वाली और हमारी संस्कृति को अपमानित करने वाली हैं। इसका एक लज्जाजनक उदाहरण हमारे अन्त्यजों के साथ किए गए व्यवहार में देखा जा सकता है। ऐसे लोग हैं जो इसको यह कह कर माफ़ करना चाहेंगे कि ऐसा करना भूतकाल की परिस्थितियों में एक अपरिहार्य त्रुटि था; कुछ दूसरे ऐसे हैं जिनका कहना है कि यह उस परिस्थिति में उपलब्ध सर्वोत्तम समाधान था.... एक ऐसा समाधान जो राष्ट्र के छठवें हिस्से को, अलग करके स्थाई रूप से कलंक, गन्दगी, बाहरी और भीतरी जीवन की अस्वच्छता तथा क्रूर पाशविक अस्तित्व की परिस्थितियों के बीच अपमानित करता है – बजाय इसके कि वह उन्हें इस नारकीय जीवन से बाहर निकाले – कोई समाधान नहीं है। इसके विपरीत यह तो कमज़ोरी की स्वीकृति है और सामाजिक ढाँचे और उसके सामूहिक आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक और भौतिक कल्याण के लिए एक नासूर है।

जाति मूल रूप में समाज में कार्यों के वितरण की एक व्यवस्था थी, ठीक वैसी ही जैसी युरोप में वर्ग की, किंतु भारत में जिस सिद्धांत पर यह वितरण आधारित था, वह इस देश का अनोखा सिद्धांत था।...एक ब्राह्मण केवल जन्म से ही ब्राह्मण नहीं था बल्कि इसलिए कि वह जाति के आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष को सँजोए रखने के अपने दायित्व का निर्वाह करता था और उसे आध्यात्मिक प्रवृत्ति को सँवारना पड़ता और आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्राप्त करना पड़ता था, जिसके बिना वह उस कार्य के योग्य नहीं बन पाता।

एक क्षत्रिय इसलिए क्षत्रिय नहीं था कि वह योद्धाओं और राजाओं का पुत्र था, बल्कि इसलिए कि वह देश की रक्षा करने के अपने दायित्व का निर्वाह करता था और उसे राजाओं की प्रवृत्ति को सँवारना पड़ता और उसे शक्तिशाली और भारी सामरिक प्रशिक्षण लेना पड़ता, जिसके बिना वह अपने कर्त्तव्यों के उपयुक्त नहीं बन पाता। यह वैश्यों पर भी लागू होता था, जिनका काम जाति के लिए धन-संचय करना था और शूद्रों के लिए भी, जो सेवा के अपेक्षाकृत साधारण कर्त्तव्यों को पूरा करते, जिनके बिना अन्य जातियाँ सार्वजनिक हित के लिए अपने हिस्से का काम संपन्न नहीं कर पातीं।

मूल रूप से एक ही विराट् पुरुष (परमात्मा) के आगे एक भक्त ब्राह्मण और एक भक्त शूद्र में कोई असमानता नहीं थी, क्योंकि प्रत्येक उसका एक आवश्यक अंग था। मराठी परियाह, चोखा मेला उन ब्राह्मणों का गुरु बन गया जिन्हें अपनी जाति की पवित्रता का गर्व था; चांडाल ने शंकराचार्य को उपदेश दिया : क्योंकि परियाह के शरीर में ब्रह्म प्रकट हुए और चांडाल में सर्वशक्तिमान साक्षात् शिव उपस्थित थे।

हमारा वास्तविक शत्रु हमारे अपने बाहर की कोई शक्ति नहीं है, बल्कि हमारी अपनी कुख्यात कमजोरियाँ, हमारी कायरता, हमारी स्वार्थपरता, हमारा मिथ्याचार, हमारी अंधी भावुकता है।

विशेषकर इस क्षण भारत को जो चाहिए वे हैं आक्रामक गुण, उड़ान भरती आदर्शवाद की भावना, उद्धत सृजन, निर्भय प्रतिरोध, साहसिक आक्रमण; निष्क्रियता की नकारात्मक तामसिक भावना हमारे पास पहले से ही अत्यधिक मौजूद है। हमें एक और ही प्रशिक्षण और प्रवृत्ति को, मन की एक दूसरी आदत को विकसित करने की आवश्यकता है। आज की परिस्थिति में हम डेन्टन की उस सशक्त आदर्शोक्ति को लागू करें कि हमें जो चाहिए, जो सीखना हमारे लिए सबसे आवश्यक है, वह है ललकार कर चुनौती देना, फिर से चुनौती देना और फिर भी चुनौती देना।

उसका (भारत का) ध्येय है मानवीय स्वतंत्रता, मानवीय समता तथा मानवीय भ्रातृत्व के सच्चे स्रोत की ओर मानवजाति का ध्यान आकर्षित करना। जब मनुष्य अपनी आत्मा में स्वतंत्र होता है, तो अन्य प्रकार की सारी स्वतंत्रता उसके अधिकार में आ जाती है; क्योंकि भगवान् स्वतंत्र हैं और उन्हें बाँधा नहीं जा सकता। मनुष्य जब भ्रम-भ्रान्ति से मुक्त हो जाता है तो उसे उस दिव्य समता का बोध होता है जो अपने आपको प्रेम और न्याय के द्वारा परिपूर्ण करती है। और तब फिर यह बोध अपने आपको सरकार व समाज के कानूनों में संचारित कर देता है।

जब मनुष्य को इस दिव्य समता का बोध हो जाता है, तो सारे विश्व के साथ उसका भ्रातृभाव हो जाता है। तब फिर वह जिस भी पद पर नियुक्त होता है, प्रेम व न्याय पर आधारित विधान के अनुसार वह सभी मनुष्यों की सेवा करता है। जब यह बोध धर्म का, दर्शन का, सामाजिक चिंतन और राजनैतिक अभीप्सा का आधार बनता है तब स्वतंत्रता, समता और भ्रातृभाव सामाजिक ढाँचे में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार सत्ययुग की वापसी हो जाती है। यह प्रजातंत्र का एशियाई दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण को भारत पूरे विश्व को प्रदान करे इससे पहले भारत को अपने स्वयं के लिए इसकी पुनः खोज करनी होगी।

विवेकानन्द शूरवीरता की आत्मा थे – शूरवीरता की यदि कोई आत्मा होती हो तो – मनुष्यों के बीच शेर-समान... हम उनके प्रभाव को आज भी विराट् रूप से कार्य करते हुए देखते हैं, यह तो हम ठीक-ठीक नहीं जानते कि कैसे और न ही यह कि कहाँ-कहाँ, लेकिन वह प्रभाव किसी ऐसी चीज में है जिसका रूप सुनिर्धारित नहीं है, एक सिंह-सदृश, महान्, भव्य, अंतःप्रेरणात्मक और ऊँचा उठाने वाली चीज के रूप में वह प्रभाव भारत की आत्मा में प्रवेश कर गया है, और हम सहसा कह उठते हैं, ''देखो, विवेकानन्द भारत की आत्मा में और उसके पुत्रों की आत्माओं में आज भी जीवित हैं।''

यदि भारत को ऊपर उठना है और एक राष्ट्र के रूप में महान् होना है तो यह अंग्रेज राजनीति और वाणिज्य की संस्थाओं और पद्धतियों के अनुकरण से नहीं होगा, बल्कि यह होगा उसकी अपनी सभ्यता को, उसमें घुस गई कमज़ोरियों से मुक्त करते हुए, एक ऐसी सिद्धि तक ले जाकर जो कि भूतकाल की सभी उपलब्धियों से उच्चतर एवं शक्तिशालिनी हो।

हमारे दृष्टिकोण से भारतीय चिन्तन, भारतीय चरित्र, भारतीय अनुभूति, भारतीय ऊर्जा व भारतीय महानता को पुनः प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य है और जिन समस्याओं में पूरा जगत् उलझा पड़ा है उनका भारतीय भावना व भारतीय दृष्टिकोण से निराकरण करना होगा। ...हमें अपने प्राचीन धर्म, दर्शन, कला और साहित्य के मूल स्रोतों की ओर लौटाना होगा और अपनी अति प्राचीन आर्य भावना और विचार के जीवनदायी प्रभावों को अपने राजनैतिक और आर्थिक विकास में संचारित करना होगा।

हिंदू की प्रतिभा केवल कर्म करते चले जाने में नहीं है बल्कि अपने विचारों और अपनी अभीप्सा को अपने कार्यों में चरितार्थ करने में है। इसका अर्थ यह है कि शरीर आन्तरिक आदेश का पालन करे उससे पहले आत्मा उस पर पूर्वमनन करती है। हिंदू का जीवन आन्तरिक है और उसके बाहरी जीवन का एकमात्र उद्देश्य उसकी अपनी आत्मा की प्रेरणाओं का पुनर्सृजन है। उसके विचार और क्रिया-कलापों के बीच यह जो घनिष्ठ संबंध है, यही उसकी स्थाई जीवन्तता का रहस्य है। अन्य राष्ट्रों की तरह उसका बाहरी जीवन भी विकास और ह्रास के नियम के अधीन है, उसके जीवन में भी महानता और पतन के युग आते हैं लेकिन जहाँ अन्य राष्ट्रों के जीवन की एक सीमा और निश्चित अवधि है, वहाँ इसके साथ ऐसा कुछ नहीं है।

अब हमें स्वयं को दया, न्याय, आत्म-त्याग, सहयोग की भावना का उदाहरण रखते हुए तथा लोगों के लिए धैर्यपूर्वक काम करते हुए अपने देश की नैतिक आभा के पुनरुद्धार के लिए अवश्य ही तत्पर हो जाना चाहिये।

अपने भीतर शक्ति का अनुभव करने का प्रयास करो, उसे आगे लाने का यत्न करो, जिससे कि प्रत्येक काम जो तुम करो, उसमें तुम्हारा स्वयं का कार्य न रहे, बल्कि उस सत्य का कार्य रहे जो तुम्हारे भीतर है। ऐसी कोशिश करो कि प्रत्येक घड़ी जो तुम जीवित रहकर बिताओ वह उसकी उपस्थिति से आलोकित हो जाए, कि तुम्हारा प्रत्येक विचार प्रेरणा के उसी एक स्रोत से प्रेरित हो; तुम्हारे भीतर निहित प्रत्येक मनःशक्ति और गुण तुम्हारे अंतर की उस अमर शक्ति की सेवा में अर्पित कर दी जाए।...

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन, नेता, मुद्दे आदि

कुछ लोग हैं जो 'स्वाधीनता' शब्द का उपयोग करने में डरते हैं लेकिन मैंने यह शब्द हमेशा काम में लिया है क्योंकि अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए अभीप्सा करना मेरा जीवन मंत्र है।

इतिहास के लिए श्री तिलक का नाम पहले से ही एक राष्ट्र-निर्माता के रूप में मान्य हो चुका है। भारत की नियति के इस नाज़ुक दौर में राष्ट्र के आधा-दर्जन महानतम् राजनैतिक व्यक्तित्वों, स्मरणीय महानुभावों, प्रतिनिधि पुरुषों में से एक नाम है यह। यह एक ऐसा नाम है जो तब तक कृतज्ञतापूर्वक याद किया जाता रहेगा जब तक इस देश को अपने भूतकाल पर गर्व और अपने भविष्य के प्रति आशा है।

राजनैतिक प्रतिभा, रचनात्मक कल्पना, आकर्षण-शक्ति, तीव्र संकल्प, अन्तर्दृष्टि के लिए मन की असाधारण नमनीयता और समयानुकूल युक्ति कौशल – इन सब गुणों से पूर्णतया विभूषित वे (चित्तरंजन दास) ही तिलक के बाद एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो भारत को स्वराज्य की मंजिल तक पहुँचा सकते थे।

जब गाँधीजी का आंदोलन प्रारंभ किया गया था तो मैंने कहा था कि या तो इसका अंत पूर्ण असफलता में होगा या फिर महान् संभ्रांति में। और मैं अपने मत को बदलने का कोई कारण नहीं देखता। केवल मैं इतना जोड़ना चाहूँगा कि उसका अंत दोनों ही में हुआ।

मैं समझता हूँ कि गाँधीजी को यह पता नहीं कि जब एक व्यक्ति सत्याग्रह अथवा अहिंसा को अपनाता है तो उसके स्वभाव को क्या हो जाता है। वे यह सोचते हैं कि लोग उससे पवित्र हो जाते हैं। पर जब लोग कष्ट उठाते हैं या स्वेच्छा से अपने को कष्ट में डालते हैं तो होता यह है कि उनकी प्राणिक सत्ता दृढ़ बन जाती है। ये आंदोलन केवल प्राणिक सत्ता को ही प्रभावित करते हैं किसी और भाग को नहीं। अब जब तुम उस शक्ति का विरोध नहीं कर सकते जो पीड़ित करती है तो तुम कहते हो कि तुम कष्ट सहोगे। वह कष्ट प्राणिक है और वह शक्ति देता है। जब उस मनुष्य को, जिसने कष्ट सहा है, शक्ति मिल जाती है तो वह और भी निकृष्ट पीड़क बन जाता है।

व्यक्ति जो कर सकता है वह यह है कि वह हिंसा की भावना को रूपांतरित कर दे। किंतु सत्याग्रह के इस अभ्यास में वह रूपांतरित नहीं होती। जब तुम इस तरह के एकपक्षीय सिद्धांत पर बल देते हो तो होता यह है कि ढोंग, मिथ्याचार, और कपट अंदर आ जाते हैं और कहीं कोई पवित्रीकरण नहीं होता। पवित्रीकरण, जैसा मैंने कहा, हिंसा के मनोवेग के रूपांतरण से ही हो सकता है।

इस संबंध में भारत का पुराना तरीका अधिक बेहतर था; जिस व्यक्ति में लड़ने की भावना थी वह क्षत्रिय बन गया और तब लड़ने की भावना सामान्य प्राणिक प्रभाव से ऊपर उठा दी जाती थी। यह उसके आध्यात्मीकरण का प्रयास था। यह प्रयास जो करने में सफल हुआ उसे सत्याग्रह न तो प्राप्त कर सकता है और न कभी करेगा। क्षत्रिय ऐसा व्यक्ति था जो किसी अत्याचार को होने नहीं देगा, जो उसके विरुद्ध लड़ेगा और वह स्वयं भी किसी को पीड़ित नहीं करेगा। यह था आदर्श....

अपनी राजनीति में श्रीअरविन्द ने किसी प्रकार के विद्वेष को कभी स्थान नहीं दिया। उनके मन में इंग्लैण्ड या अंग्रेजों के प्रति घृणा कभी नहीं रही; भारतीय स्वंतत्रता प्राप्त करने के लिए उन्होंने सरकार पर कुप्रबन्ध या अत्याचार का दोष नहीं लगाया, अपितु स्वराज्य के जन्मसिद्ध अधिकार होने के नाते स्वराज्य का दावा किया। व्यक्तियों पर भी यदि उन्होंने कभी तीक्ष्ण प्रहार किया तो वह केवल उनके विचारों या राजनैतिक कार्रवाई के लिए ही, किसी अन्य हेतु से नहीं।

उन्होंने (निवेदिता ने) राजनीति को विवेकानंद के कार्य के रूप में अपनाया।... स्वयं विवेकानंद के पास – जिनमें कभी-कभी क्रांतिकारी जोश के दौर आते थे – राजनैतिक कार्य के संबंध में विचार थे।... यह विचित्र बात है कि उस समय कितने संन्यासियों ने भारत की स्वतंत्रता के संबंध में विचार किया।

मेरी यह धारणा है कि भारत को, जिसकी अपनी ही चेतना है, और अपनी सभ्यता के उपयुक्त प्रशासन की प्रवृत्ति है, राजनीति में, जैसी कि और सभी बातों में भी, अपना मौलिक पथ अंकित करना चाहिए, युरोप की पगडंडी में ठोकरें खाते नहीं फिरना चाहिए।

इतिहास बहुत ही कम ऐसी बातों को अंकित करता है जो निर्णायक रही हों पर जो परदे के पीछे घटित हुई; वह परदे के सामने हुए खेल को ही अंकित करता है।... बंगाल में आंदोलन को सदी के प्रारंभ में उसका हिंसात्मक मोड़ देने में अथवा क्रांतिकारी आंदोलन को जन्म देने में मेरा कार्य बहुत कम ज्ञात है।

मेरा विचार वैसा ही है जैसा टैगोर ने एक बार लिखा था। शीर्ष पर एक राष्ट्रपति हो जिसके पास विपुल शक्तियाँ हों ताकि नीति की निरंतरता सुरक्षित रखी जा सके, और राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाली एक सभा हो। प्रांत मिलकर एक संघ बनाएँ जो शीर्ष पर संयुक्त हो, स्थानीय संगठनों के लिए अपनी स्थानीय समस्याओं के अनुरूप कानून बनाने की पर्याप्त गुंजाइश छोड़ते हुए।

कश्मीर में हिंदुओं का पूरा एकाधिकार था। अब यदि मुस्लिम माँगों को स्वीकार कर लिया जाता है तो हिंदुओं का सफाया कर दिया जाएगा।

तुम उस धर्म के साथ सौहार्दपूर्ण तरीके से रह सकते हो जिसका सिद्धांत सहनशीलता हो। पर ऐसे धर्म के साथ शांति से रहना कैसे संभव है जिसका सिद्धांत ही यह है, 'मैं तुम्हें सहन नहीं करूँगा'? तुम ऐसे लोगों से एकता कैसे रखोगे? निश्चित ही इस आधार पर हिंदू-मुस्लिम एकता नहीं आ सकती कि मुसलमान हिंदुओं का धर्म परिवर्तन कराते जाएँ जबकि हिंदू किसी मुसलमान का धर्म परिवर्तन नहीं कराएँगे।... तुम ऐसे आधार पर एकता स्थापित नही कर सकते! मुसलमानों को अहानिकर बनाने का शायद एकमात्र उपाय यह होगा कि उनका अपने धर्म के प्रति धर्मांध विश्वास मिटा दिया जाए।

श्रीअरविंद का १५ अगस्त १९४७ का संदेश

१५ अगस्त १९४७ स्वाधीन भारत का जन्मदिन है। यह दिन भारत के लिए पुराने युग की समाप्ति और नए युग का प्रारम्भ सूचित करता है। परन्तु हम एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में अपने जीवन और कार्यों के द्वारा इसे ऐसा महत्त्वपूर्ण दिन भी बना सकते हैं जो सम्पूर्ण जगत् के लिए, सारी मानवजाति के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भविष्य के लिए, नवयुग लाने वाला सिद्ध हो।

१५ अगस्त मेरा अपना जन्मदिन है और स्वभावतः ही यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है कि इस दिन ने इतना विशाल अर्थ तथा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। परन्तु इसके भारतीय स्वाधीनता दिवस भी हो जाने को मैं कोई आकस्मिक संयोग नहीं मानता, बल्कि यह मानता हूँ कि जिस कर्म को लेकर मैंने अपना जीवन आरम्भ किया था उसको मेरा पथ-प्रदर्शन करने वाली भगवती शक्ति ने इस तरह स्वीकार कर लिया है और उस पर मुहर भी लगा दी है और वह कार्य पूर्ण रूप से सफल होना आरम्भ हो गया है। निःसंदेह, आज के दिन मैं प्रायः उन सभी वैश्विक आन्दोलनों को, – जिन्हें मैंने अपने जीवनकाल में ही सफल देखने की आशा की थी, यद्यपि उस समय वे असम्भव स्वप्न जैसे ही दिखाई देते थे, – सफल होते हुए या अपनी सफलता के मार्ग पर जाते हुए देख सकता हूँ। इन सभी आन्दोलनों में स्वाधीन भारत एक बड़ी भूमिका अच्छी तरह अदा कर सकता है और एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर सकता है।

इन स्वप्नों में प्रथम था एक क्रांतिकारी आन्दोलन जो स्वाधीन और एकीभूत भारत को जन्म दे। भारत आज स्वाधीन हो गया है पर उसने एकता नहीं प्राप्त की। एक समय प्रायः ऐसा प्रतीत होता था मानो अपने स्वाधीन होने की प्रक्रिया में ही वह फिर से उस पृथक्-पृथक् राज्यों की अव्यवस्थापूर्ण स्थिति में जा गिरेगा जो विजय से पहले विद्यमान थी। परन्तु सौभाग्य से अब ऐसी प्रबल सम्भावना हो गई है कि यह संकट टल जाएगा और अभी पूर्ण न सही पर एक विशाल तथा शक्तिशाली एकत्व अवश्य स्थापित हो जाएगा। विधानपरिषद् की दूरदर्शितापूर्ण प्रबल नीति ने इस बात को सम्भव बना दिया है कि दलित वर्गों की समस्या बिना फूट और दरार के हल हो जाएगी। परन्तु हिंदुओं और मुसलमानों का पुराना सांप्रदायिक भेद देश के स्थाई राजनैतिक विभाजन के रूप में सुदृढ़ हो गया दिखता है। यह आशा होनी चाहिए कि इस तय किए गए विभाजन को पत्थर की लकीर नहीं मान लिया जाएगा और इसे एक कामचलाऊ अस्थाई उपाय से बढ़कर और कुछ न माना जाएगा। क्योंकि यदि यह कायम रहे तो भारत भयानक रूप में दुर्बल और अपंग तक हो सकता है; गृह-कलह का होना सदा ही सम्भव बना रह सकता है, नए आक्रमण और विदेशी राज्य का हो जाना तक सम्भव हो सकता है। भारत की आन्तरिक उन्नति और समृद्धि रुक सकती है, राष्ट्रों के बीच उसकी स्थिति दुर्बल हो सकती है, उसका भविष्य कुंठित, यहाँ तक कि व्यर्थ भी हो सकता है। यह नहीं होना चाहिए; देश का विभाजन अवश्य दूर होना चाहिए। हम आशा करें कि यह कार्य स्वाभाविक रूप से ही हो जाएगा, न

केवल शांति और मेल-मिलाप की, बल्कि मिल-जुलकर काम करने की भी आवश्यकता को उत्तरोत्तर समझ लेने तथा मिल-जुलकर काम करने के अभ्यास और उसके लिए साधनों को उत्पन्न कर लेने से सम्पन्न हो जाएगा। इस प्रकार अन्त में एकता चाहे किसी भी रूप में आ सकती है – उसके ठीक-ठीक रूप का व्यावहारिक महत्त्व भले ही हो, पर कोई प्रधान महत्त्व नहीं। परन्तु चाहे किसी भी उपाय से हो, चाहे किसी भी प्रकार से हो, विभाजन अवश्य हटना चाहिए, एकता अवश्य स्थापित होनी चाहिए और स्थापित होगी ही, क्योंकि भारत के भविष्य की महानता के लिए यह आवश्यक है।

दूसरा स्वप्न था एशिया की जातियों का पुनरुत्थान तथा स्वातन्त्र्य और मानव-सभ्यता की उन्नति के कार्य में एशिया का जो महान् स्थान पहले था उसी स्थान पर उसका लौट जाना। एशिया जग गया है; उसके बड़े-बड़े भाग स्वतन्त्र हो गए हैं या इस समय बंधन-मुक्त हो रहे हैं; इसके अन्य भाग जो अभी परतन्त्र या अंशतः परतन्त्र हैं वे भी, चाहे कैसे भी घोर संघर्षों में से गुजरते हुए, स्वतन्त्रता की ओर बढ़ रहे हैं। केवल थोड़ा ही करना बाकी है और वह आज न सही कल पूरा हो जाएगा। उसमें भारत को अपनी भूमिका अदा करनी है और उसे उसने एक ऐसी सामर्थ्य और योग्यता के साथ करना शुरु कर दिया है जो अभी से उसकी सम्भावनाओं की मात्रा को तथा उस स्थान को सूचित करती है जिसे वह राष्ट्रों की सभा में ग्रहण कर सकता है।

तीसरा स्वप्न था एक विश्व-संघ जो समस्त मानवजाति के लिए एक सुन्दरतर, उज्जवलतर और महत्तर जीवन का बाहरी आधार निर्मित करे। मानव संसार का वह एकीकरण प्रगति के पथ पर है। एक अधूरा प्रारम्भ संगठित किया गया है पर वह बड़ी भारी कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। किन्तु उसमें एक वेग है और वह अनिवार्य रूप से बढ़ता चला जाएगा और विजयी होगा। इस कार्य में भी भारतवर्ष ने प्रमुख भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है और, यदि वह उस अधिक विशाल राजनीतिज्ञता को विकसित कर सके जो वर्तमान घटनाओं और तात्कालिक सम्भावनाओं से ही सीमित नहीं होती, बल्कि भविष्य को देख लेती और उसे निकट लाती है, तो भारत की उपस्थिति मन्द एवं भीरुतापूर्ण विकास और द्रुत एवं साहसपूर्ण विकास में जो महान् भेद है उसे कम करने के लिए बहुत प्रभावी हो सकती है। जो कार्य किया जा रहा है उसमें महान् विपत्ति आ सकती है जो उसमें बाधा डाल सकती है या उसे नष्ट कर सकती है, किन्तु तो भी अन्तिम परिणाम निश्चित है। क्योंकि एकीकरण प्रकृति की आवश्यकता है, अनिवार्य गति है। इसकी आवश्यकता राष्ट्रों के लिए भी स्पष्ट है; क्योंकि इसके बिना छोटे-छोटे राष्ट्रों की स्वाधीनता किसी भी क्षण खतरे में पड़ सकती है और बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्रों का भी जीवन असुरक्षित हो सकता है। इसलिए इस एकीकरण में ही सबका हित है और केवल मानवीय निःशक्तता तथा मूर्खतापूर्ण स्वार्थपरता ही इसे रोक सकती है; परन्तु ये भी प्रकृति की आवश्यकता और

भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हमेशा नहीं ठहर सकतीं। परन्तु एक बाहरी आधार ही पर्याप्त नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय भाव और दृष्टिकोण भी अवश्य विकसित होने चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति तथा संस्थाएँ भी अवश्य प्रादुर्भूत होनी चाहिये, शायद इस प्रकार की संभावनाएँ भी विकसित हों जैसे कि दो या अनेक देशों का एक संग नागरिक होना, संस्कृतियों का आपस में ऐच्छिक दान-प्रतिदान या उनका स्वेच्छापूर्वक घुलना-मिलना। राष्ट्रीयता तब अपने-आपको चरितार्थ कर चुकी होगी और अपनी युद्धप्रियता को छोड़ चुकी होगी, और तब वह ऐसी चीजों को आत्म-संरक्षण तथा अपनी दृष्टि की अखण्डता के साथ असंगत नहीं अनुभव होगी। एकत्व की एक नई भावना मनुष्य जाति पर आधिपत्य जमा लेगी।

चौथा स्वप्न, संसार को भारत का आध्यात्मिक दान, पहले से ही प्रारम्भ हो चुका है। भारत की आध्यात्मिकता युरोप और अमेरिका में नित्य बढ़ती हुई मात्रा में प्रवेश कर रही है। यह आन्दोलन बढ़ेगा; वर्तमान काल की विपदाओं के बीच अधिकाधिक लोगों की आँखें आशा के साथ भारत की ओर मुड़ रही हैं और न केवल उसकी शिक्षाओं का अपितु उसकी आंतरात्मिक और आध्यात्मिक साधना का भी उत्तरोत्तर आश्रय लिया जा रहा है।

अन्तिम स्वप्न था क्रमविकास में अगला कदम जो मनुष्य को एक उच्चतर और विशालतर चेतना में उठा ले जाएगा और उन समस्याओं का हल करना प्रारम्भ कर देगा जिन समस्याओं ने मनुष्य को तभी से हैरान और परेशान कर रखा है जबसे कि उसने वैयक्तिक पूर्णता और पूर्ण समाज के विषय में सोचना विचारना शुरू किया था। यह अभी तक एक व्यक्तिगत आशा और विचार और आदर्शमात्र है जिसने भारत और पश्चिम में दोनों जगह दूरदर्शी विचारकों को वश में करना शुरु कर दिया है। इस मार्ग की कठिनाइयाँ प्रयास के किसी भी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक जबर्दस्त हैं, परन्तु कठिनाइयाँ जीती जाने के लिए ही बनी थीं और यदि दिव्य परम इच्छाशक्ति का अस्तित्व है तो वे दूर होंगी ही। यहाँ भी, यदि इस विकास को घटित होना है तो, चूँकि यह आत्मा और आंतर चेतना की अभिवृद्धि द्वारा ही होगा, इसका प्रारम्भ भारतवर्ष ही कर सकता है और यद्यपि इसका क्षेत्र सार्वभौम होगा, तथापि केंद्रीय भूमिका भारत की हो सकती है।

ये हैं वे भाव और भावनाएँ जिनको मैं भारतीय स्वाधीनता की इस तिथि के साथ सम्बद्ध करता हूँ। क्या ये आशाएँ ठीक सिद्ध होंगी, या कहाँ तक सिद्ध होंगी, यह बात नए और स्वाधीन भारत पर निर्भर करती है।

भारत के भाग्य का सूर्य उदय होगा, सारा भारत उसकी प्रभा से जगमगा जाएगा, फिर यह ज्योति भारत से उमड़कर एशिया को जगमगा देगी और एशिया से उमड़ती हुई सारे संसार को जगमग-जगमग कर देगी। प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक मुहूर्त अब तो हम उस दिन की उज्जवलता के अधिकाधिक समीप होते जाएँगे जो भगवान् ने निर्दिष्ट कर दिया है।

हममें क्या दोष हैं

मेरी यह धारणा है कि भारत की दुर्बलता का प्रधान कारण पराधीनता नहीं, दरिद्रता नहीं, अध्यात्मबोध या धर्म का अभाव नहीं, बल्कि है चिंतनशक्ति का ह्रास — ज्ञान की जन्मभूमि में अज्ञानता की व्यापकता। सर्वत्र ही देखता हूँ inability या unwillingness to think (विचारने की अक्षमता या अनिच्छा) अथवा चिंतन-"फोबिया"। मध्ययुग में चाहे जो हो, पर आजकल तो यह भाव घोर अवनति का लक्षण है। मध्ययुग था रात्रिकाल, अज्ञान की विजय का युग। आधुनिक जगत् है ज्ञान की विजय का युग। जो जितना अधिक विचार करता है, अन्वेषण करता है, परिश्रम कर विश्व के सत्य की गहराई में पैठ सकता है, उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ती है। युरोप को देखो, पाओगे दो चीजें — अनंत विशाल चिंतन का समुद्र और प्रकांड वेगवती पर सुशृंखल शक्ति का खेल। यही है युरोप की समस्त शक्ति, उसी शक्ति के बल पर वह जगत् को ग्रसित कर पा रहा है हमारे प्राचीन तपस्वियों की तरह, जिनके प्रभाव से विश्व के देवता भी भयभीत, संदिग्ध और आधीन रहते थे। लोग कह देते हैं कि युरोप ध्वंस की ओर दौड़ा जा रहा है। मैं यह नहीं मानता। यह जो विप्लव है, यह जो उलट-पुलट है, यह है नव-सृष्टि की पूर्वावस्था। फिर देखो भारत की तरफ। कुछ solitary giants (जहाँ-तहाँ प्रतिभाशाली महापुरुषों) के अतिरिक्त सर्वत्र ही सीधे-सरल मनुष्य हैं, अर्थात् average man (औसत मनुष्य), जो विचारना नहीं चाहते, विचार ही नहीं सकते, जिनमें बिंदु-मात्र भी शक्ति नहीं है, केवल क्षणिक उत्तेजना। भारत चाहता है सरल विचार, सीधी बात; युरोप चाहता है गंभीर विचार, गंभीर बात। सामान्य कुली-मजदूर भी सोचता है, सब कुछ जानना चाहता है, मोटे तौर पर जानकर ही संतुष्ट नहीं हो जाता, गहरे पैठकर देखना चाहता है। प्रभेद यही है। किंतु युरोप की शक्ति और चिंतन की fatal limitation (घातक सीमा) है। अध्यात्मक्षेत्र में पहुँचने पर उसकी चिंतनशीलता अब और काम नहीं करती। वहाँ युरोप देखता है सब कुछ गोरखधंधा, nebulous metaphysic (कुहेलिकामय तत्त्वशास्त्र), Yogic hallucination (योगजन्य मतिभ्रम); धुँए में आँख रगड़ते हुए कहीं कोई ठहराव नहीं पाता। पर आजकल इस limitation (सीमा) को भी surmount (अतिक्रम) करने की चेष्टा युरोप में कुछ कम नहीं हो रही। हमें अध्यात्मबोध अपने पूर्वजों से विरासत में मिला है, और जिसमें यह बोध है उसके हाथ में है ऐसा ज्ञान, ऐसी शक्ति है जिसकी एक फूँक से युरोप की समस्त प्रकांड शक्ति तिनके के समान उड़ जा सकती है। किंतु उस शक्ति को पाने के लिए शक्ति की उपासना की जरूरत है। परंतु हम शक्ति के उपासक नहीं, सहज के उपासक हैं, सहज से शक्ति नहीं मिलती। हमारे पूर्वजों ने विशाल चिंतन-समुद्र में गोता लगा विशाल ज्ञान प्राप्त किया था, विशाल सभ्यता खड़ी कर दी थी। रास्ता चलते-चलते उनमें अवसाद आ जाने, क्लांत हो जाने के कारण चिंतन-मनन का वेग कम हो गया, साथ-ही-साथ शक्ति का वेग भी कम हो गया। हमारी सभ्यता हो गई है जड़भरत-सी, धर्म हो गया है बाह्याचार की कट्टरता, अध्यात्मभाव हो गया है एक क्षीण आलोक या क्षणिक उत्तेजना की तरंग। यह अवस्था जब तक रहेगी तब तक भारत का स्थाई पुनरुत्थान असंभव है।

* * *

हमेशा से भारतीय मानस की केंद्रीय व्यस्तता धर्म रहा है; कई लोग तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि धर्म की अतिशयता ने भारत को नष्ट कर दिया क्योंकि हमने सारे जीवन को धर्म का रूप दे दिया या दूसरे शब्दों में धर्म को ही जीवन बना लिया और इस तरह हम जीवन में असफल होकर पतनोन्मुख हो गए। मैं किसी भिन्न संदर्भ में कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा का सहारा लेकर यह न कहूँगा कि हमारे पतन से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, कि भारत जिस धूल में पड़ा है वह भी पवित्र है। पतन व असफलता का महत्त्व अवश्य है और किसी भी राष्ट्र या जाति के लिए भूमिसात् होना अच्छी अवस्था नहीं है। लेकिन जो कारण दिया गया है वह सच्चा नहीं है। अगर अधिकतर भारतीयों ने सच्चे अर्थ में धर्म को ही अपना जीवन बना लिया होता तो वे वहाँ न होते जहाँ आज हैं, हमारा पतन इस कारण हुआ क्योंकि भारत का सार्वजनिक जीवन बहुत अधिक अधार्मिक, अहंकारी, स्वार्थ-परायण तथा भौतिक बन गया। यह संभव है कि एक दिशा में भारतीय बहुत अधिक धार्मिकता की ओर भटक गए अर्थात्, विधि-विधान, अनुष्ठान, यांत्रिक पूजा-पाठ की सतही अतिशयोक्तियों की तरफ बहुत अधिक झुक गए और दूसरी ओर जगत् से दूर भागकर वैराग्यवाद में भारत के कई विलक्षण प्रतिभासंपन्न व्यक्ति खो गए, प्राचीन ऋषियों की तरह जगत् में रहकर आध्यात्मिक सहायता तथा प्रबोधक जीवनयापन की शिक्षा देने की बजाय वे अतीत के गह्वरों में समा गए। लेकिन भारत के पतन का मूल कारण उसकी अतिशय धार्मिकता नहीं बल्कि उसका अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से डाँवाडोल होना था और एक बड़ा कारण यह भी था कि अपने बौद्धिक क्रिया-कलाप तथा स्वतंत्रता से वह च्युत हो गया था, उसके महान् आदर्शों को ग्रहण लग गया था और जीवन का प्रवाह धीमा पड़ गया था।

शायद एक अर्थ में बहुत अधिक धार्मिकता थी। क्योंकि अंग्रेजी शब्द ''रिलीजन'' से बहुत अधिक बाह्य विधि-विधानों की गंध आती है; उदाहरण के लिए, मत-सिद्धांत, अनुष्ठान तथा बाह्य धर्म-परायणता। लेकिन अगर हम धर्म को भारतीय अर्थ में लें तो वह है अपनी प्रचुरता में आध्यात्मिक प्रवृत्ति और आध्यात्मिकता का अर्थ है अपने उच्चतम स्व, भगवान् अर्थात् सर्वालिंगनकारी एकता को जानना और उसी में निवास करना और जीवन को उसके सभी पहलुओं के साथ दिव्यतम संभव मूल्यों में ढालना, अर्थात् जीवन के सभी पक्षों का सर्वांगीण विकास। मोटे अर्थ में भी अगर हम धर्म का यह अर्थ करें तो स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि धर्म बहुत अधिक नहीं बल्कि बहुत कम था और जो था वह भी इतना एकांगी और एकतरफा कि उसमें वह आध्यात्मिक प्रवृत्ति ही न थी। अब इसका सच्चा उपचार यह है कि भारत के शाश्वत आदर्श को और अधिक एकांगी तथा संकुचित न किया जाए बल्कि उसकी पुरानी बहुलता तक पुनः लौटने का प्रयास करके उसे और अधिक क्षेत्र

दिया जाए ताकि यथार्थ रूप में राष्ट्र का समस्त जीवन बहुमुखी प्रगति के इस उच्च आध्यात्मिक अर्थ में धार्मिक बन जाए। यही वह दिशा है जिसकी ओर पश्चिम के दर्शन, काव्य तथा कला न्यूनाधिक रूप से टटोलते हुए बढ़ रहे हैं, और जैसे-जैसे बढ़ रहे हैं अधिक प्रकाश पा रहे हैं, यहाँ तक कि उसके राजनैतिक तथा समाजशास्त्रीय आदर्शों पर सत्य की कुछ किरणें भी पड़ रही हैं। भारत के पास ज्ञान की कुञ्जी है तथा वह आदर्श के प्रति सचेतन है, जो कुछ अंधकार में चला गया था अब फिर से प्रकाश में आ रहा है और अब वह नए प्रकाश में उसे अधिक विस्तृत रूप से देख रहा है। जो कुछ उसकी पुरानी प्रक्रिया में भूल-भरा तथा विकृत हो गया था उसे अब वह सुधार सकता है। अपने आध्यात्मिक आदर्शों को सुरक्षित रखने के लिए उसने जिन बाड़ों को बनाया था और जो बाद में उसके अपने विस्तार के लिए बाधक बन गए उनको अब वह तोड़ सकता है और अधिक विस्तृत क्षेत्र में अपनी आत्मा की अधिक स्वतंत्र उड़ान भर सकता है। भारत अगर चाहे तो उन समस्याओं को एक नया तथा निर्णायक मोड़ दे सकता है जिन्हें सुलझाने का सारी मानवजाति प्रयास कर रही है क्योंकि उनकी समस्याओं का समाधान उसके प्राचीन ज्ञान में है। भारत पुनर्जागरण के इस काल में इस सुअवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाएगा या नहीं, यही उसकी नियति का महान् प्रश्न है।

भारत, प्राचीन माता, पीड़ा व आँसुओं के साथ पुनर्जीवित होने का प्रयास कर रही है, किंतु उसका प्रयास व्यर्थ है। उसे रोग क्या है? जो इतनी विशाल है और जिसके भीतर बहुत शक्तिशाली बनने की सामर्थ्य भी है। कहीं कोई बड़ी कमी है, कोई खास दोष है। उसे पकड़ पाना भी कठिन नहीं है। हमारे अंदर सब कुछ है सिर्फ शक्ति की, ऊर्जा की कमी है। हमने 'शक्ति' को छोड़ दिया है और इसलिए शक्ति ने भी हमें छोड़ दिया है। हमारे हृदय में, हमारे मस्तिष्क में, हमारी भुजाओं में 'माँ' नहीं हैं।

हमें क्या करने की आवश्यकता है

भारत में महान् जागृतियों के तथा उसके सर्वाधिक शक्तिशाली एवं बहुविध जीवनीशक्ति के महान् क्षणों ने अपनी ऊर्जा किन्हीं गहरे धार्मिक जागरण के स्रोतों से प्राप्त की है। जहाँ कहीं भी यह धार्मिक जागृति पूर्ण एवं भव्य रही है, वहीं उससे उत्पन्न होने वाली राष्ट्रीय ऊर्जा भी विराट् एवं शक्तिशाली रही है और जहाँ कहीं यह धार्मिक जागृति संक्षिप्त या अपूर्ण रही है, वहाँ राष्ट्रीय जागृति खण्डित, अपूर्ण एवं अस्थिर रही है। और इस जागरण की सतत् पुनरावृत्ति इस बात का प्रमाण है कि यह इस जाति की प्रकृति के अंदर ही निहित है। यदि तुम इसके अलावा अन्य या विजातीय तरीके काम में लेने का प्रयास करोगे तो या तो हमें हमारा लक्ष्य बहुत ही थका देने वाली धीमी गति व पीड़ादायक तरीके से या फिर अपूर्ण रूप से प्राप्त होगा या फिर हमें हमारा लक्ष्य कभी भी प्राप्त नहीं होगा।

पश्चिम ने विज्ञान और कल-पुर्जों पर ही विश्वास किया है और अब वह अपने विज्ञान से ही नष्ट हो रहा है और अपने कल-पुर्जों के भार से ही कुचला जा रहा है। पश्चिम ने अभी तक यह नहीं समझा है कि इन आदर्शों की परिपूर्णता के लिए आध्यात्मिक परिवर्तन आवश्यक है। पूर्व के पास उस आध्यात्मिक परिवर्तन का रहस्य है किंतु उसने बड़े लंबे अरसे से अपनी दृष्टि इस धरती से फेर रखी है लेकिन अब उस विभाजन के घाव भरने का और जीवन तथा आत्मा को एक करने का समय आ गया है।

भारत द्वारा यह रहस्य भी पा तो लिया गया है पर पर्याप्त रूप से कार्यान्वित नहीं हुआ है। इसे गीता के छोटे-से सूत्र ''योगस्थः कुरु कर्माणि'' में संक्षिप्त रूप दे दिया गया है। इसका सिद्धांत यह है कि समस्त कर्म, योग में भगवान् के साथ एक होकर किया जाए, अपने उच्चतम स्व के आधार पर और आत्मा की शक्ति द्वारा अपने सभी अंगों पर शासन द्वारा किया जाए और हम विश्वास करते हैं कि यह मनुष्य के लिए केवल संभव ही नहीं है बल्कि उसकी सब कठिनाइयों और समस्याओं का सच्चा समाधान है। अतः यह है वह संदेश जिसे हम सदा उच्चारित करते रहेंगे और यह है वह आदर्श जिसे हम उठते हुए युवा भारत के आगे रखेंगे, एक ऐसा आध्यात्मिक जीवन जो सभी मानव क्रिया-कलाप को अपना लेगा और सारे जगत् को आगामी महान् युग के लिए रूपांतरित करने के लिए उपयोगी होगा। केवल भारत ही, जो अपने अंदर प्राचीन काल से रहस्य को लिए हुए है, इस महान् रूपांतर में मार्ग-दर्शन कर सकता है, और प्राचीन युग की यह वर्तमान संध्या ही उसकी अग्रदूत है। मानवजाति के लिए यही उसका 'मिशन' और सेवा होनी चाहिए – जैसे भारत ने व्यक्ति के लिए आंतरिक आध्यात्मिक जीवन की खोज की उसी तरह अब उसे इस जाति के लिए उसकी समग्र सामूहिक अभिव्यक्ति का पता लगाना और मानवजाति के लिए उसकी नूतन आध्यात्मिक और सामुदायिक व्यवस्था की आधारशिला रखनी चाहिए।

हमारा पहला उद्देश्य होगा इस आदर्श की घोषणा करना : पहली आवश्यकता के रूप में आध्यात्मिक परिवर्तन पर जोर देना और उन सबको इकट्ठा करना जो सच्चाई के साथ उसे स्वीकार करते और उसके लिए प्रयास करने के लिए तैयार हैं: दूसरा उद्देश्य होगा इस सिद्धांत के आधार पर केवल व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामुदायिक जीवन को स्थापित करना। बाहरी क्रिया-कलाप और आंतरिक परिवर्तन की जरूरत है और उसे एक ही साथ आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक कर्म होना चाहिए। उसका कार्य-क्षेत्र भी एक ही साथ व्यक्तिगत और सामुदायिक, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय और अंततोगत्वा न केवल राष्ट्र के लिए बल्कि समस्त मानवजाति के लिए भी होना चाहिए।

हमारी पुकार युवा भारत के नाम है। युवकों को ही नवीन जगत् का निर्माता होना चाहिए, उन लोगों के नाम नहीं जो पश्चिम के प्रतियोगितावादी व्यक्तिवाद, पूंजीवाद या भौतिक साम्यवाद को भारत का भावी आदर्श मानते हैं, उन लोगों के नाम भी नहीं जो पुराने धार्मिक विचारों के दास बने हुए हैं और आत्मा के द्वारा जीवन की स्वीकृति और उसके रूपांतर को स्वीकार नहीं कर सकते, बल्कि उन सबके नाम है जो मन और हृदय में पूर्णतर सत्य को स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र हैं और महत्तर आदर्श के लिए परिश्रम करने को तैयार हैं।

वे ऐसे लोग होने चाहिए जो अपने-आपको भूत या वर्तमान के प्रति नहीं, भविष्य के प्रति समर्पित करने के लिए तैयार हों। उन्हें अपने जीवन का उत्सर्ग अपने निम्नतर अहं को लाँघ सकने के लिए, अपने अंदर और सभी व्यक्तियों में भगवान् को चरितार्थ करने के लिए करना चाहिए; राष्ट्र और मानवजाति के लिए अथक परिश्रम और पूरे मन से उन्हें अपना उत्सर्ग कर देना चाहिये।

अभी तो यह आदर्श एक छोटा-सा बीज, तथा जो जीवन इसे आत्मसात् करता है वह एक छोटा सा नाभिक ही हो सकता है, परंतु हमारी निश्चित आशा है कि यह बीज बढ़कर एक महान् वृक्ष और यह नाभिक एक सतत् वर्धित होने वाले निर्माण का हृदय बनेगा। हमें प्रेरणा देनेवाली आत्मा पर अंतरंग विश्वास के साथ हम उस नवीन मानवजाति के ध्वजा-वाहकों में अपना स्थान लेते हैं जो संसार की अव्यवस्था और विघटन के बीच जन्म लेने के लिए प्रयत्नशील हैं, उस भावी भारत के लिए, उस बृहत्तर भारत के पुनर्जन्म के लिए जो प्राचीन माँ के महान् परंतु जीर्ण-शीर्ण शरीर का कायाकल्प कर देगा।

यदि भारत को अपना अस्तित्व बनाए रखना है और विश्व में अपना निर्धारित कार्य करना है तो हमारी पहली आवश्यकता होगी कि भारत का युवावर्ग विचार करना सीखे – सभी विषयों पर विचार करना, स्वतंत्र रूप से, लाभदायक ढंग से, वस्तुओं की तह तक जाकर विचार करना, उनकी ऊपरी सतह पर रुककर नहीं, पूर्वनिर्णयों से मुक्त होकर, एक तेज तलवार से मिथ्याभास और पूर्वाग्रह को काटते हुए, हर प्रकार की रूढ़िवादिता को मानों भीम की गदा के प्रहार से चूर-चूर करते हुए। ...

पुराने स्वरूपों को वापस लौटाने की आवश्यकता नहीं है, पर तुम उस भावना को बरकरार रख सकते हो जो अपने ही नये स्वरूपों का सृजन कर सकती है।

भारत स्वयं अपनी और मानवजाति की सेवा उत्तम रूप से तभी कर सकता है जब वह अपने स्वयं को बनाए रख सके और अपनी ही प्रकृति के नियमों का अनुसरण करे। इसका यह अर्थ नहीं है – जैसा कि कुछ लोग अपने संकीर्ण दृष्टिकोण तथा अंधतावश सोचते हैं – कि समय के प्रवाह के साथ-साथ जो कुछ आए या जो कुछ पश्चिम ने पहले-पहल विकसित करके सशक्त रूप में अभिव्यक्त कर लिया हो उस सबका परित्याग। इस तरह की प्रवृत्ति बौद्धिक रूप से मूर्खतापूर्ण, भौतिक रूप से असंभव और सबसे अधिक अनाध्यात्मिक होगी। सच्ची आध्यात्मिकता किसी भी नूतन प्रकाश को, मानव आत्म-विकास के लिए बाहर से आए साधनों या सामग्री का परित्याग नहीं करती। उसका मुख्य विचार होता है अपने केंद्र को, जीवन की अपनी शैली को, अपनी जन्मजात प्रकृति को अक्षुण्ण बनाए रखना और जो कुछ वह बाहर से प्राप्त करे उसे इन चीजों के साथ घुल-मिल जाना चाहिए।

सबसे बढ़कर हमें श्रद्धा की जरूरत है, स्वयं अपने अंदर श्रद्धा, राष्ट्र के अंदर श्रद्धा और भारत की नियति पर श्रद्धा। हमें अपने ऊपर श्रद्धा हो, अपने राष्ट्र पर श्रद्धा हो और भारत की नियति पर श्रद्धा हो। शक्तिशाली श्रद्धा द्वारा अजेय बनाए गए एक दर्जन आदमियों ने, दूसरे समयों में, विशाल देशों में कोने-कोने में राष्ट्रीयता की आग सुलगा दी थी।

सभी महान् आत्माओं में श्रद्धा का महान् गुण होता है। श्रद्धा की दृष्टि सुदूर भविष्य में प्रवेश करके असंभव को संभव बना देती है।

हम किसी भौतिक लाभ के लिए कोई अनुरोध नहीं करते हैं। लौकिक उपलब्धि की कोई कामना नहीं बल्कि अपनी महानता और गौरव को बनाए रखने की उत्कंठापूर्ण आशा ही वह चीज़ है जो किसी जाति को ऐसी अतिमानवीय चेष्टा के लिए तत्पर करती है। सबसे पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि हम महान् और गौरवशाली हैं, कि हम स्वाभिमानी और भद्र हैं, और यह ऐच्छिक पराभव का हमारा भाव ही है जिसने हमको धूल-धूसरित कर रखा है। अमीरी और समृद्धि के किसी भी भौतिक आदर्श ने किसी देश का निर्माण नहीं किया है। लेकिन जब आत्म-सम्मान के भाव पर चोट पड़ती है, जब महानता की चेतना पुनर्जागृत होती है, तब और केवल तब ही किसी पराभूत राष्ट्र की बिखरी हुई इकाइयाँ एक प्रबल नैतिक शक्ति के चारों ओर एकत्रित होती हैं।

Notes

Notes

Notes

Name & Addresses	*Phone*

Name & Addresses	*Phone*

Name & Addresses	Phone

Name & Addresses	*Phone*

IMPORTANT STD CODES

A		Ballia	0549	Bilaspur	07752	**DELHI**	**011**
Abohar	01634	Ballipatnam	0497	Bilaspur(HP)	01978	Deoband	01336
Aburoad	029741	Balrampur	05263	Bogadi	0821	Deshonke	0151
Adityapur	0657	Balurghat	03522	Bokaro	06542	Dewas	07272
Agartala	0381	Banda	0519	Bundi	0747	Dhahanu	02528
Agra	0562	Bandikul	01420	Burdwan	0342	Dhanbad	0326
Ahmedabad	079	Bangerpet	08153	Buxar	06183	Dharamsala	01892
Ahmednagar	0241	Banglore	080	Bykampady	0824	Dharmasthala	08256
Aizwal	0389	Banswara	02962	**C**		Dharwar	0836
Ajmer	0145	Barabanki	0524	Calicut	0495	Dholpur	05642
Akluj	0218	Baramati	02112	Cannanore	0497	Dhruva	0651
Akola	0724	Baramulla	01952	Carmelaram	080	Dhulia	02562
Alandurai	0422	Barasat	033	Chaibasa	06582	Dibrugarh	0373
Aligarh	0571	Barauni	06373	Chamba	018992	Digboi	037539
Alipur	08155	Baraut	01234	Chandake	0674	Dimapur	03862
Allahabad	0532	Bareilly	0581	Chandigarh	0172	Dindigal	0451
Alleppey	0477	Barmer	02982	Channapatna	08113	Dispur	0361
Almora	05962	Baroda	0265	Chapprapadbu	0498	Doda	01996
Alnavar	0836	Basti	05542	Chembari	0498	Dombivilli	0251
Alwar	0144	Beawer	01462	Chendia	08382	Durg	0788
Ambala	0171	Beed	0231	Chennai	044	Dwarka	02892
Ambalamugal	0484	Begusarai	06342	Chennapatna	047525	**E**	
Ambalathara	0499	Behrampur(WB)	03482	Chhaharata	0183	Edakkad	0497
Ambernath	0251	Belgaum	0831	Chhapra	06152	Elluru	08812
Ambikapur	07774	Belgundi	0831	Chhindwara	07162	Ernakulam	0484
Amboori	0471	Belur (Hubli)	083095	Chidambram	04144	Erode	0424
Amethi	053681	Belwadi	0821	Chinakadu	0474	Etah	05742
Amraoti	0721	Bettiah	06254	Chittadrikkal	0499	Etawa	0568
Amritsar	0183	Betul	07141	Chittorgarh	01472	**F**	
Anandapur	06731	Bhagalpur	0641	Chottanikkara	0484711	Faizabad	05272
Anantang	01932	Bharatpur	05644	Cochin	0484	Fajamundary	0883
Anekal	080	Bharuch	02642	Coimbatore	0422	Faridkot	01639
Ankalgi	0831	Bhatapara	03164	Combay	02698	Fatehpur	0518
Arachallur	0424	Bhatinda	0164	Coochbehar	03582	Fazilka	01638
Arrah	06182	Bhavnagar	0278	Cudappah	08562	Feroke	0495
Asansol	0341	Bhillai	0788	Cuttack	0671	Firojabad	0561
Aurangabad	0240	Bhilwara	01482	**D**		**G**	
Aurangabad (BH)	06186	Bhind	07534	Dabhoi	02663	Gandhidham	02836
Ayarathally	0821	Bhiwadi	01493	Dabwali	01668	Gandhinagar	02712
Ayodhaya	05276	Bhiwandi	02522	Dadri	05737	Gandhinagar(KR)	0481
Azamgarh	0546	Bhiwani	01664	Daltanganj	06562	Gangaikondan	0462
B		Bhopal	0755	Daman	02636	Gangaralchathra	0821
Badaun	05832	Bhubaneshwar	0674	Damoh	07812	Gangtok	03592
Bagdogra	03556	Bhuj	02832	Danapur	0612	Gannaur	01264
Bahraich	05252	Bhurhanpur	0735	Darbanga	06272	Garg	0836
Balachor	0891	Bhusaval	02582	Darjeeling	0354	Gauhati	0361
Balaghat	07632	Bijapur	08352	Daund	021176	Gaya	0631
Balasore	06782	Bijnore	01342	Dehradun	0135	Ghazipur	0548
Ballarpur	07174	Bikaner	0151	Dehuroad	0212	Girdih	06532

IMPORTANT STD CODES Contd.

Gohana	01263	Jatrabad	02799	Karivellur	0498	Malkapurum	0891
Gonda	05262	Jagdalpur	07782	Karjat	02415	Manachallur	0431
Gondia	07182	Jahanbad	06114	Karnal	0184	Mandore	0291
Gopalganj	06156	Jaipur	0141	Karnire	0824	Mandya	08232
Gopeshwar	01372	Jaisalmer	02992	Karwar	08382	Mangalore	0824
Gorakhpur	0551	Jaisinghpur	023383	Kasauli	01792	Manjura	0261
Goregaon	07187	Jalgaon	0257	Kashipur	05947	Manmad	02552
Guddimarnhaili	08118	Jallandhar	0181	Kathua	01922	Manol	08538
Gudur	08624	Jalna	02482	katni	07622	Marangatupally	0482
Guna	07542	Jalore	02973	Kausa	0227	Mathura	0565
Guntakel	08552	Jamnagar	0288	Kavindapadi	04256	Maunath Bhanjan	0547
Guntur	0863	Jamkhandi	08353	Kazipel	08712	Mayyil	0498
Gurdaspur	01874	Jammu	0191	Khagaria	06244	Meerut	0121
Gurgaon	0124	Jamshedpur	0657	Khandwa	0733	Meghalapur	01821
Gwalior	0751	Jaunpur	05452	Khatauli	01316	Mehsana	02734
H		Jedimetla	040	Khurja	05738	Midnapur	03226
Hailymandi	0124	Jeypore(K)	06854	Killiyanthara	0497	Miraj	023382
Haldia	03224	Jhabua	07392	Kodaikanal	04542	Mirzapur	05442
Haldwani	05948	Jhalukban	0361	Kohima	0370	Moga	01636
Halga	0831	Jhansi	0517	Kolhapur	0231	Moghaisarai	05412
Halol	02676	Jharia	0326	**KOLKATA**	**033**	Mohali	0172
Hamirpur	01972	Jharsuguda	06645	Konark	06758	Monghyr	06344
Hamirpur(UP)	0528	JhumriTilaiya	06534	Kongad	0491	Moradabad	0591
Hanumangarh	01552	Jhunjhunu	01592	Kopergaon	024232	Morar	0751
Hapur	0122	Jind	01681	Korukonda	0883	Motihari	06257
Hardoi	05852	Jodhpur	0291	Kota	0744	Mukerian	01883
Hardwar	0133	Joginder Nagar	01908	Kotdwar	01382	Mulauthuruty	0484
Hassan	08172	Jorhal	0376	Kottayam	0481	Mulleria	0499
Hathras	05722	Jodhimath	01389	Kozikode	0495	**MUMBAI**	**022**
Hazari Bagh	06546	Junagarh	0285	Kullu	01902	Murena	07532
Hebbagudi	0804	**K**		Kumbakonam	0435	Mussoorie	0135632
Hebsur	0836	K.K. Koppa	0831	Kuppepadavu	0824	Muzzafarnagar	0131
Hirehalli	0816	Kadakkai	0475	Kurichi	0422	Muzzafarpur	0621
Hissar	01662	Kadappuram	0487	Kurnool	08518	Mysore	0821
Hodel	01276	Kadiroor	0497	**L**		**N**	
Hoshangabad	07574	Kaithal	01746	Lakhanpur	05643	Nabha	01765
Hoshiarpur	01882	Kalamboli	0227	Lalitpur	05176	Nadiad	0268
Howarh	033	Kalka	01733	Latur	02382	Nagamalaitukottai	0452
Hubli	0836	Kalmeshwar	0711	Leh	01982	Nagamalpudh	0452
Hublipintooroad	0836	Kalyan	0251	Lucknow	0522	Nagpur	0712
Hyderabad	040	Kangazha	0482	Ludhiana	0161	Nahan	01702
I		Kangra	018926	**M**		Naini	0532
Ichalkaranji	02324	Kaniapuram	0471	Madanapalle	08571	Nainital	05942
Imphal	03852	Kanke	0651	Madhurawada	0891	Najibabad	01341
Indore	0731	Kanpur	0512	Madukkaral	0422	Nanded	02462
Itanagar	03781	Kanyakumari	04652	Madurai	0452	Nandial	08514
Itarsi	07572	Kanzikuzhi	0481	Madurai Ellisnaga	0452	Nangli	08159
J		Kapurthala	01822	Malegaon	02554	Narnaul	01282
Jabalpur	0761	Karakkonam	0471	Malkapur	02315	Nasik	0253

IMPORTANT STD CODES Contd.

Navaseva	022	Pokaran	02994	Samalkha	01742	Thillenkeri	0497
Nawalgarh	01592	Pondicherry	0413	Samastipur	06274	Thirunagar	0452
Neemka-thana	01574	Poonch	01965	Sambalpur	0663	Thondamuthur	0422
Nellore	0861	Pooyappally	0475	Sangamner	024252	Thrikkaripur	0499
NEW DEHLI	**011**	Poranki	0866582	Sangli	0233	Tinsukia	0374
New Tehri	01376	Porbandar	0286	Sangrur	01672	Tiruchirapally	0431
Nilamel	0475	Portblair	03192	Saravanapatti	0422	Tirunelveli	0462
Nimbahera	01477	Pratapgarh	05342	Sarhind	01763	Tiruparaithuray	0431
Nokha	01531	Prathipadu	0863	Sasaram	06184	Tirupati	08574
Nowgaon	03672	Pune	020	Satana	02555	Tirupur	0421
O		Punnapra	0477	Satara	02162	Trichur	0487
Ooty	0423	Purnia	06454	Satgachia	0342	Trikakkara	0484
Orai	0516	Puthencruz	0484	Satna	07672	Trivendrum	0471
Osmanabad	02472	**Q**		Seoni	07692	Tundla	05612
Othakadai	0452	Quilon	0474	Shaamli	01318	Turbhe	0227
Ottasekharamangal	0471	**R**		Shahabad	08474	Tuticorin	0461
P		Rabella	0227	Shahbad	01744	**U**	
Palampur	01894	Raibareilly	0535	Shahjahanpur	05842	Uchagaon	0831
Palayamkotta	0462	Raichur	08532	Shillong	0364	Udaipur	0294
Pali	02142	Raigarh	07762	Shimla	0177	Udhampur	01992
Palighat	0491	Raipur (MP)	0771	Siker	01572	Ujjain	0734
Pallikara	0499	Raisen	07482	Silchar	03842	Ulhasnagar	0251
Palwal	01275	Rajamundry	0883	Siliguri	0353	Ullal	0824
Panankhady	0499	Rajapuram	0499	Sivakasi	04562	Uluberia	033
Panipat	01742	Rajkot	0281	Siwan	06154	Una	01975
Panjim	0832	Rajnandgaon	07744	Solan	01792	Unnao	05144
Panna	07732	Rajouri	01962	Solapur	0217	Urdiqure	0816
Panvel	0227	Rajpura	01762	Somarasampet	0431	Uttarkashi	01374
Parassala	0471	Ramanthali	0498	Sonepat	01264	**V**	
pasur	0424	Rampur	0595	Sreekariam	0471	Vapi	02638
Pathankot	0186	Rachi	0651	Sriganganagar	0154	Varansi	0542
Patiala	0175	Raniket	05966	Srinagar	0194	Vasco	083451
Pauri Garhwal	01368	Ratlam	07412	Srinagar Garwal	01388	Vashi	0227
Patna	0612	Ratangarh	01567	Srirampur	02422	Vellore	0416
Patna	08152	Raxaul	06255	Srirangam	0431	Vettikavala	0475
Peambur	0824	Rewa	07662	Sujangarh	01568	Vidisha	07592
Peria Paipkenpanay	0422	Rewari	01274	Sultanpur	05362	Vidyanagar	0836
Perinad	0475	Rishikesh	01354	Suraipur	07775	Vijayawad	0866
Periya	0499	Rohtak	01262	Surat	0261	Viramgam	02715
Poerumbavoor	048452	Roorkee	01332	Surendranagar	02752	Vishakhapatnam	0891
Phagwara	01824	Ropar	01881	**T**		Vishwanathapura	08119
Phaltan	021662	Rourkela	0661	Tallarevu	0884	**W**	
Phulankhara	0671	Rudrapur	05944	Tamando	0674	Warangai	08712
Pilani	01596	**S**		Tarapur	02525	Wardha	07152
Pilibhit	05882	Sagar	07582	Tasgaon	023384	Wellington Island	0484
Pikhuwa	05763	Saharanpur	0132	Tejpur	03712	**Y**	
Pinjore	04733	Saharsa	06478	Telco	0657	Yamunagar	01732
Pithoragarh	05964	Salem	0427	Thakurli	0251	Yeotamal	07232

IMPORTANT ISD CODES

Country / City	Code
Algeria	**213**
Algiers	2
Argentina	**54**
Buenos Aires	1
Australia	**61**
Canberra	62
Melbourne	3
Sydney	2
Austria	43
Vienna	1
Bahrain	973
Manama	NAC
Bangladesh	880
Chittagong	31
Dhaka	2
Belgium	32
Antwerp	3
Brussels	2
Brazil	55
Brasilia	61
Rio de Janeiro	21
Sao Paulo	11
Bulgaria	359
Sofia	2
Canada	1
Montreal	514
Toronto	416
Vancouver	604
China	86
Beijing	1
Cyprus	357
Nicosia	2
Czech	42
Prague	2
Denmark	45
Copenhagen (Inner)	1
Copenhagen (Outer)	2
Egypt	20
Alexandria	3
Cairo	2
Ethiopia	251
Addis Ababa	1
Finland	358
Helsinki	0
Fiji	679
Suva	NAC
France	33
Lyon	7
Nice	93
Paris (City)	1
Germany	49
Berlin	30
Bonn	228
Frankfurt/Main	69
Leipzig	341
Munich	89
Ghana	233
Accra	21
Greece	30
Athens	1
Hong Kong	852
Hong Kong	NAC
Hungary	36
Budapest	1
India	91
New Delhi	11
Indonesia	62
Jakarta	21
Iran	98
Tehran	21
Iraq	964
Baghdad	1
Ireland	353
Dublin	1
Italy	39
Genda	10
Milano	2
Rome	6
Japan	81
Kobe	78
Kyoto	75
Osaka	6
Tokyo	33
Jordan	962
Amman	6
Aqaba	3
Kenya Rep.	254
Mombasa	11
Nairobi	2
Kuwait	965
Kuwait	NAC
Libya	218
Tripoli	21
Luxembourg	352
Luxembourg	NAC
Malaysia	60
Kuala-Lumpur	3
Maldives	960
Male	32
Mexico	52
Mexico City	5
Mauritius	230
Port St. Louis	NAC
Nepal	977
Kathmandu	1
Netherlands	31
Amsterdam	20
The Hague	70
New Zealand	64
Auckland	9
Christchurch	3
Wellington	4
Nigeria	234
Lagos	1
Norway	47
Oslo	2
Oman	968
Muscat	NAC
Pakistan	92
Islamabad	51
Karachi	21
Lahore	42
Phillipines	63
Manila	2
Poland	48
Warsaw	2
Portugal	351
Lisbon	1
Qatar	974
Doha	NAC
Russia	7
Moscow	95
Leningrad	812
Saudi Arabia	966
Jeddah	2
Mecca	2
Riyadh	1
Seychelles	248
Victoria	NAC
Singapore	65
Singapore	NAC
Slovakia	42
Bratislava	7
South Korea	82
Seoul	2
Spain	34
Barcelona	3
Madrid	1
Sri Lanka	94
Colombo	1
Jaffna	21
Sweden	46
Stockholm	8
Switzerland	41
Berne	31
Geneva	22
Zurich	1
Syria	963
Damascus	11
Taiwan	886
Taipei	2
Tanzania	255
Dar-Es-Salaam	51
Thailand	66
Bangkok	2
Turkey	90
Ankara	4
Istanbul	11
UAE	971
Abu Dhabi	2
Dubai	4
Sharjah	6
Uganda	256
Kampala	41
United Kingdom	44
Belfast	232
Birmingham	21
Glasgow	41
London (Inner)	171
Liverpool	51
Manchester	61
United States	1
Chicago	312
Houston	713
Los Angeles	213
Miami	305
New Jersey	732
New York	718
Philadelphia	215
San Fransisco	415
Washington DC	202
Ukraine	7
Kiev	44
Uzbekistan	7
Tashkent	371
Vatican City	39
Vatican City	6698
Venezuela	58
Caracas	2
Zambia	260
Kitwe	2
Lusaka	1
Ndola	2
Zimbabwe	263
Harare	4

READY-REFERENCE CALENDAR

For ascertaining any day of the week for any given time from 1800 to 2050 inclusive

COMMON YEARS, 1800 TO 2050										Jan	Feb	Mar	Apr	May	Jun	Jul	Aug	Sep	Oct	Nov	Dec
1801	1829	1857	1885	1914	1942	1970	1998	2026													
1807	1835	1863	1891	1925	1953	1981	2009	2037		4	7	7	3	5	1	3	6	2	4	7	2
1818	1846	1874	1903	1931	1959	1987	2015	2043													
1802	1830	1858	1886	1915	1943	1971	1999	2027													
1813	1841	1869	1897	1926	1954	1982	2010	2038		5	1	1	4	6	2	4	7	3	5	1	3
1819	1847	1875	1909	1937	1965	1993	2021	2049													
1803	1831	1859	1887	1921	1949	1977	2005	2033													
1814	1842	1870	1898	1927	1955	1983	2011	2039		6	2	2	5	7	3	5	1	4	6	2	4
1825	1853	1881	1910	1938	1966	1994	2022	2050													
1805	1833	1861	1889	1907	1935	1963	1991	2019	2047												
1811	1839	1867	1895	1918	1946	1974	2002	2030		2	5	5	1	3	6	1	4	7	2	5	7
1822	1850	1878	1901	1929	1957	1985	2013	2041													
1800	1823	1851	1879	1913	1941	1969	1997	2025													
1806	1834	1862	1890	1919	1947	1975	2003	2031		3	6	6	2	4	7	2	5	1	3	6	1
1817	1845	1873	1902	1930	1958	1986	2014	2042													
1809	1837	1865	1893	1911	1939	1967	1995	2023													
1815	1843	1871	1899	1922	1950	1978	2006	2034		7	3	3	6	1	4	6	2	5	7	3	5
1826	1854	1882	1905	1933	1961	1969	2017	2045													
1810	1838	1866	1894	1917	1945	1973	2001	2029													
1821	1849	1877	1900	1923	1951	1979	2007	2035		1	4	4	7	2	5	7	3	6	1	4	6
1827	1855	1883	1906	1934	1962	1990	2018	2046													
LEAP YEARS, 1804 TO 2048											29										
1804	1832	1860	1888		1928	1956	1984	2012	2040	7	3	4	7	2	5	7	3	6	1	4	6
1808	1836	1864	1892	1904	1932	1960	1988	2016	2044	5	1	2	5	7	3	5	1	4	6	2	4
1812	1840	1868	1896	1908	1936	1964	1992	2020	2048	3	6	7	3	5	1	3	6	2	4	7	2
1816	1844	1872		1912	1940	1968	1996	2024		1	4	5	1	3	6	1	4	7	2	5	7
1820	1848	1876		1916	1944	1972	2000	2028		6	2	3	6	1	4	6	2	5	7	3	5
1824	1852	1880		1920	1948	1976	2004	2032		4	7	1	4	6	2	4	7	3	6	1	3
1828	1856	1884		1924	1952	1980	2008	2036		2	5	6	2	4	7	2	5	1	3	6	1

1	2	3	4	5	6	7
Monday 1	Tuesday 1	Wednesday 1	Thursday 1	Friday 1	Saturday 1	SUNDAY 1
Tuesday 2	Wednesday 2	Thursday 2	Friday 2	Saturday 2	SUNDAY 2	Monday 2
Wednesday 3	Thursday 3	Friday 3	Saturday 3	SUNDAY 3	Monday 3	Tuesday 3
Thursday 4	Friday 4	Saturday 4	SUNDAY 4	Monday 4	Tuesday 4	Wednesday 4
Friday 5	Saturday 5	SUNDAY 5	Monday 5	Tuesday 5	Wednesday 5	Thursday 5
Saturday 6	SUNDAY 6	Monday 6	Tuesday 6	Wednesday 6	Thursday 6	Friday 6
SUNDAY 7	Monday 7	Tuesday 7	Wednesday 7	Thursday 7	Friday 7	Saturday 7
Monday 8	Tuesday 8	Wednesday 8	Thursday 8	Friday 8	Saturday 8	SUNDAY 8
Tuesday 9	Wednesday 9	Thursday 9	Friday 9	Saturday 9	SUNDAY 9	Monday 9
Wednesday 10	Thursday 10	Friday 10	Saturday 10	SUNDAY 10	Monday 10	Tuesday 10
Thursday 11	Friday 11	Saturday 11	SUNDAY 11	Monday 11	Tuesday 11	Wednesday 11
Friday 12	Saturday 12	SUNDAY 12	Monday 12	Tuesday 12	Wednesday 12	Thursday 12
Saturday 13	SUNDAY 13	Monday 13	Tuesday 13	Wednesday 13	Thursday 13	Friday 13
SUNDAY 14	Monday 14	Tuesday 14	Wednesday 14	Thursday 14	Friday 14	Saturday 14
Monday 15	Tuesday 15	Wednesday 15	Thursday 15	Friday 15	Saturday 15	SUNDAY 15
Tuesday 16	Wednesday 16	Thursday 16	Friday 16	Saturday 16	SUNDAY 16	Monday 16
Wednesday 17	Thursday 17	Friday 17	Saturday 17	SUNDAY 17	Monday 17	Tuesday 17
Thursday 18	Friday 18	Saturday 18	SUNDAY 18	Monday 18	Tuesday 18	Wednesday 18
Friday 19	Saturday 19	SUNDAY 19	Monday 19	Tuesday 19	Wednesday 19	Thursday 19
Saturday 20	SUNDAY 20	Monday 20	Tuesday 20	Wednesday 20	Thursday 20	Friday 20
SUNDAY 21	Monday 21	Tuesday 21	Wednesday 21	Thursday 21	Friday 21	Saturday 21
Monday 22	Tuesday 22	Wednesday 22	Thursday 22	Friday 22	Saturday 22	SUNDAY 22
Tuesday 23	Wednesday 23	Thursday 23	Friday 23	Saturday 23	SUNDAY 23	Monday 23
Wednesday 24	Thursday 24	Friday 24	Saturday 24	SUNDAY 24	Monday 24	Tuesday 24
Thursday 25	Friday 25	Saturday 25	SUNDAY 25	Monday 25	Tuesday 25	Wednesday 25
Friday 26	Saturday 26	SUNDAY 26	Monday 26	Tuesday 26	Wednesday 26	Thursday 26
Saturday 27	SUNDAY 27	Monday 27	Tuesday 27	Wednesday 27	Thursday 27	Friday 27
SUNDAY 28	Monday 28	Tuesday 28	Wednesday 28	Thursday 28	Friday 28	Saturday 28
Monday 29	Tuesday 29	Wednesday 29	Thursday 29	Friday 29	Saturday 29	SUNDAY 29
Tuesday 30	Wednesday 30	Thursday 30	Friday 30	Saturday 30	SUNDAY 30	Monday 30
Wednesday 31	Thursday 31	Friday 31	Saturday 31	SUNDAY 31	Monday 31	Tuesday 31

NOTE: To ascertain any day of the week, first look in the table for the year required and under the months are figures which refer to the corresponding figures at the head of the columns of the days below. For Example:- To know on what day of the week 15th Aug., 1872 fell, look in the table of years for 1872, and in a parallel line under August is figure 4, which directs to column 4 in which it will be seen that August 15 fell on Thursday.

CONVERSION FACTORS

CONVERSION FACTORS

Abbreviation	Prefixes		for instance
		Mile (m) $\frac{1}{1000}$ of unit	
Metre-m	kilo (K)-1000 times unit		100 centimetres = 1 metre
Gramme-gm	hecto (h) - 100 times unit	centi (c) $\frac{1}{100}$ of unit	100 milligramme = 1 gramme
Litres-1	deca (dal) - 10 times unit	deci (d) $\frac{1}{10}$ of unit	100 litres = 1 hectolitre

Length

1 inch = 25.4 millimetres (mm)
1 foot = 30.48 centimetres (cm)
1 yard = 0.9144 metre (m)
1 mile = 1.6093 kilometres (km)
1 millimetre = 0.0328 inch.
1 centimetre = 0.0328 foot
1 metre = 1.094 yards
1 kilometre = 0.62137 mile

Centimetres		Inch
2.540	1	0.394
5.080	2	0.787
7.620	3	1.181
10.160	4	1.575
12.700	5	1.969
15.240	6	2.362
17.780	7	2.756
20.320	8	3.150
22.860	9	3.543

Metres		Yards
0.914	1	1.094
1.829	2	2.187
2.743	3	3.281
3.658	4	4.374
4.572	5	5.468
5.486	6	6.562
6.401	7	7.655
7.315	8	8.749
8.230	9	9.843

Kilometres		Miles
1.609	1	0.621
3.219	2	1.243
4.828	3	1.864
6.437	4	2.485
8.047	5	3.107
9.656	6	3.728
11.265	7	4.350
12.875	8	4.971
14.484	9	5.592

Volume

1 inch^3 = 16.387 centimetres^3
1 foot^3 = 28.316 decimetres^3
1 pint^3 = 0.568 litre
1 imperial gallon = 4.546 litres
1 centimetre^3 = 0.0610 inch^3
1 decimetre^3 = 0.035 feet^3
1 litre = 1.76 pints
1 litre = 0.220 Imperial gallon

Litre		Gallons
4.546	1	0.220
9.092	2	0.440
13.638	3	0.660
18.184	4	0.880
22.730	5	1.110
27.276	6	1.320
31.822	7	1.540
36.368	8	1.760
40.914	9	1.980

Weight

1 ounce = 28.349 gm.
1 pound = 0.4536 kg.
1 stone = 6.350 kilogrammes
1 cwt = 50/80 kilogrammes
1 ton = 1.016 metric tonnes
1 gramme = 0.03527 ounce
1 kilogramme = 2.205 pounds
1 kilogramme = 0.158 stone
1 kilogramme = 0.01968 cwt
1 metric tonne = 0.09842

Kilograms		Pounds
0.454	1	2.205
0.907	2	4.405
1.361	3	6.614
1.814	4	8.819
2.268	5	11.023
2.722	6	13.228
3.175	7	15.432
3.629	8	17.637
4.082	9	19.872

Area

1 sq. inch = 6.4516 sq. cm.
1 sq. yard = 0.8361 sq. metre
1 sq. mile = 2.589 sq. kilometres
1 acra = 4047 sq. metres
1 sq. centimetre = 0.155 sq. inch
1 sq. metre = 1.1960 sq. yards
1 sq. kilometre = 0.386 sq. mile
1 hectare = 10.000 sq. metres
1 hectare = 2.471 acres

Sq. Metres		Sq. Yards
0.836	1	1.196
1.672	2	2.392
2.508	3	3.588
3.345	4	4.784
4.181	5	5.980
5.017	6	7.176
5.853	7	8.372
6.689	8	9.568
7.525	9	10.764

Easy Conversion

Metres into yards
add one-tenth
Yards into metres
deduct one-tenth
Kilometres into miles
multiply by 5 and divide by 8
Miles into kilometres
multiply by 8 and divide by 5
Litres into pints
multiply by 7 and divide by 4
Pints into litres
multiply by 4 and divide by 7
Litres into gallons
multiply by 2 and divide by 9
Gallons into litres
multiply by 9 and divide by 2
Kilograms into pounds
divide by 9 and multiply by 20
Pounds into by kilograms
divide by 20 and multiply by 9

Double conversion Tables : The central figures represent either of the two columns besides them, as the case may be Exemple : 1 kilometre = 0.621 mile and one mile = 1.609 kilometres.

द रिसर्जेन्ट इण्डिया ट्रस्ट

इस ट्रस्ट का मूलभूत उद्देश्य है भारत के समग्र पुनरुत्थान के लिए कार्य करना जिससे कि वह राष्ट्रों के समुदाय में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सके और अपने शक्तिशाली उदाहरण व आध्यात्मिक प्रभाव के माध्यम से मानव जाति के लिए वह रास्ता खोल दे जिससे धरती पर ऐसा दिव्य जीवन स्थापित हो सके जो पुरातन काल से धरती पर अवतीर्ण होने वाले स्वर्ग के साम्राज्य की घोषणाओं एवं आश्वासनों की परम परिणति होगा।

राष्ट्रों के समुदाय में अपना सच्चा स्थान प्राप्त करने व उचित भूमिका निभाने के लिए भारत को अपनी आत्मा को पुनः पाना और अभिव्यक्त करना होगा जो कि वर्तमान में एक ऐसे अभिभूत करने वाले वाणिज्यवाद से पूर्णतया आच्छादित है जो कि सर्वत्र अपने पंख फैला चुका है और जो इस पर पश्चिम के अदूरदर्शी उपयोगितावाद के प्रबल आक्रमण का परिणाम है। व्यष्टि रूप से इस आक्रमण का सामना व्यक्ति अपनी आन्तरिक सत्ता या इससे भी बेहतर अपनी अन्तरात्मा के प्रति सचेतन होकर और इसे भारत की आत्मा के प्रति सचेतन कर उसको जानने व उसकी सेवा करने के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ होकर कर सकता है।

भारत की आत्मा और उसके मिशन के प्रति सचेतन व्यक्ति ही एक ऐसे समूह की रीढ़ बनेंगे जो सामंजस्यात्मक इच्छाशक्ति एवं आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा भारत और सारे संसार की रक्षा करने को प्रवृत्त होगा।

'द रिसर्जेन्ट इंडिया ट्रस्ट' ऐसे ही व्यक्तियों के समूह द्वारा स्थापित किया गया है जो भारत की आत्मा के प्रति सचेतन होकर उसकी दिव्य नियति में जीवन्त श्रद्धा रखते हैं और तमाम विरोधी बाह्य आभासों के होते हुए भी उससे तीव्र प्रेम करते हैं। यह ट्रस्ट इन सभी की और इनके अनगिनत भाइयों और बहनों की भारत के प्रति सच्ची श्रद्धा व प्रेम की अभिव्यक्ति का शक्तिशाली यंत्र बनने की आशा करता है।

हमें यह दृढ़ विश्वास है कि भारत की सबसे बड़ी आवश्यकता – वह जिसकी पूर्ति होने पर उसकी वर्तमान की अधिकांश समस्याएँ एवं कठिनाईयाँ स्वतः विलीन हो जाएँगी – अपनी महान् संस्कृति, गौरवशाली इतिहास और अपने अतीत की परम उपलब्धियों में अपने खोए हुए आत्मगौरव को पुनः प्राप्त करना है। यह ट्रस्ट भारतीयों को उनकी वर्तमान दशा और उनके महान् अतीत की सच्चाई के प्रति जागरूक करने की उत्कंठा रखता है जिससे कि वह उस शक्ति के कार्य में सहायक हो सके जो उन्हें अपनी आध्यात्मिक संस्कृति की शालीनता, महानता एवं अजेयता में खोए हुए विश्वास एवं स्वाभिमान – जो कि विधर्मियों एवं विदेशियों की एक हजार से ज्यादा वर्षों की गुलामी व उनके पराए विचारों के गहरे प्रभाव (जो कि अभी तक कायम हैं) के कारण लुप्त हो गया था – की पुनः प्राप्ति की तरफ ले जा रही है।

प्रत्येक राष्ट्र मानवजाति में निहित विकासशील आत्मा की एक शक्ति है और वह राष्ट्र अपने उस मूल तत्त्व से प्रभावित होता है जिसका मूर्तिमान स्वरूप वह धारण किए होता है। भारत शक्ति एक महान् आध्यात्मिक संकल्प की जीवित जागृत ऊर्जा है और उसके प्रति निष्ठा ही उसके अस्तित्व का मूल सत्य है। केवल इसी गुण के कारण वह अमर राष्ट्रों में से एक है; यही उसके आश्चर्यजनक अध्यवसाय और चिरस्थाई उत्तरजीविता और पुनरुज्जीवन का रहस्य है।

g r h

क्योंकि यह बात भगवान् की पुस्तक में लिखी हुई है और इसको चरितार्थ होने से कोई विफल नहीं कर सकता.... कि भारत का राष्ट्रीय जीवन अपनी दिव्य व शक्तिशाली नियति को अवश्यमेव प्राप्त व अधिकृत करेगा।

g r h

भारत नष्ट नहीं हो सकता, हमारी जाति लुप्त नहीं हो सकती क्योंकि मानवजाति के सभी खण्डों में से भारत ही है जिसकी नियति सर्वोत्कृष्ट एवं भव्यातिभव्य तय की गई है, एक ऐसी नियति जो सम्पूर्ण मानवजाति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत को ही अपने अंदर से एक संपूर्ण जगत् का भावी धर्म प्रस्तुत करना होगा, एक सनातन धर्म जो कि सभी धर्मों, विज्ञान तथा दर्शनों में सुसामंजस्य स्थापित कर संपूर्ण मानवजाति को एकात्मकता प्रदान करेगा।